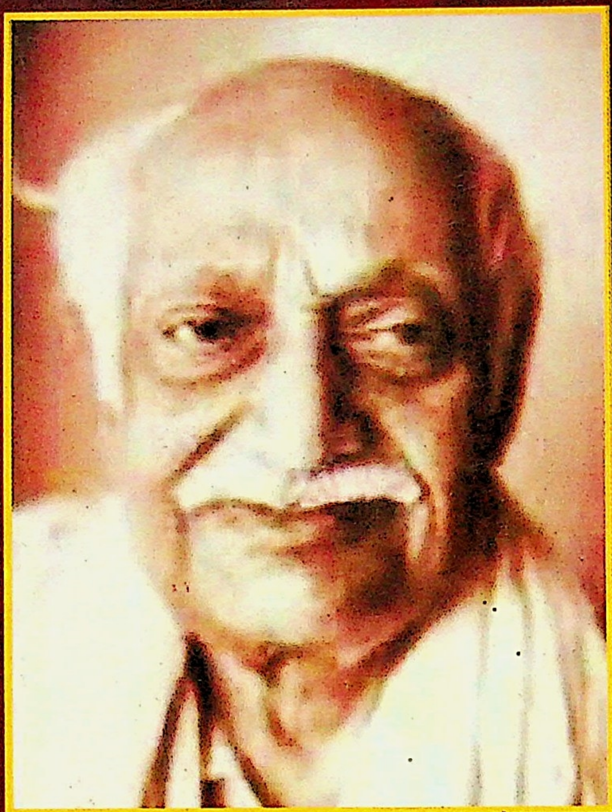


काव्यचिन्तन

लेखक

पद्मविभूषण महामहोपाध्याय
डॉ. पं. गोपीनाथ कविराज

हिन्दी अनुवादक

श्री एस. एन. खण्डेलवाल

पुस्तक परिचय

यथार्थ दार्शनिक के हृदय में केवल शुष्कज्ञान ही स्थितिशील नहीं रहता । यथार्थ दार्शनिक की दृष्टि तथा उसका हृदय दिव्यज्ञान से ओतप्रोत रहता है । यह दिव्यज्ञान रसमय है । 'जा पर कृपा करहिं जन जानी, कवि उर अजिर नचावहिं वाणी' भगवत् कृपापात्र के हृदयपटल पर भगवती वाणी सरस्वती भी उसी रस से निमज्जित होती रहती है । यही यथार्थ दार्शनिक का स्वरूप है । यही इस सदी के ही नहीं, कई सदियों में अद्वितीय दार्शनिक रूप से गण्य कविराज जी का रसचिन्तन 'काव्यचिन्तन' के रूप में आत्मप्रकाश कर रहा है । परमतत्त्व भी 'कवि' रूप से ख्यात है । 'कविर्मनीषी' उसी की संज्ञा है । अतः उसी के दर्शन में रत दार्शिनिक की दृष्टि भी काव्यचिन्तना करके उसी की अर्चना कर रही है । इसके अध्ययन से पाठकगण में भी यथार्थ रस का संचार होगा, यह निर्विवाद है ।

ISBN : 978-93-81484-07-4
₹ 160

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
530

काव्यचिन्तन

लेखक
पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डा० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक
श्री एस०एन० खण्डेलवाल



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

ISBN : 978-93-81484-07-4

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के 37/117 गोपाल मंदिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129

वाराणसी-221001

दूरभाष : (0542) 2335263

प्रथम संस्करण 2012

मूल्य : 160.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली न. 21-ए, अंसारी रोड़, दरियागंज

नई दिल्ली-110002

दूरभाषः (011) 32996391, टेलीफैक्सः (011) 23286537

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर,

पोस्ट बॉक्स न. 2113, दिल्ली-110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पोस्ट बॉक्स न. 1069, वाराणसी-221001

मुद्रक

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

निवेदन

प्रख्यात दार्शनिक तथा विद्वान् प्रातः स्मरणीय म०म०डॉ०पं० गोपीनाथ कविराज महोदय के स्फुट लेखों का संकलन आज 'काव्यचिन्तन' की संज्ञा के साथ हिन्दी भाषारूपान्तरण के रूप में आत्मप्रकाश कर रहा है। यह उनके उन लेखों का संकलन है जो कई दशाब्दियों पूर्व बंगाल की विभिन्न ख्यात पत्रिकाओं में प्रकाशित किये गये थे। इन सभी का मूलरूप बंगभाषा में था। यहाँ उनका यथाशक्ति शब्दशः रूपान्तरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक के भाव को अक्षुण्ण रखने का भी प्रयास यथाशक्ति किया गया है।

सामान्यतः दर्शनशास्त्र को शुष्क विषय माना जाता है। ऐसी मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। एक दार्शनिक का दृष्टिकोण कभी भी काव्य-चेतना तथा भावधारा का संस्पर्श पाये विना यथार्थता को नहीं प्राप्त कर सकता। यथार्थ दर्शन कभी भी शुष्क विषय नहीं है। उसकी चरम परिणति में भाव की वेगवती धारा उमड़ पड़ती है। दर्शन का चरम बिन्दु है भावमयता। जो भावहीन है, उसे दर्शनजनित सत्य-साक्षात्कार कैसे हो सकेगा? वह केवल शब्दाडम्बर के अतिरिक्त कुछ भी प्रस्तुत नहीं कर सकेगा। वह तो 'परम' की कृपा से वंचित रह जाता है। वास्तविक दार्शनिक के हृदयरूपी आंगन में वाणी भी नृत्यरता होने के लिये विवश हो जाती है। यही उसकी सत्यानुभूति का यथार्थ उल्लास है। यह सब कृपा सापेक्ष है। जहाँ भगवत् कृपा का वर्षण नहीं हो सका, वहाँ की बंजर भूमि में यथार्थ भावमय दर्शनबीज का वपन कैसे सफल होगा।

कविराज जी का दर्शनशास्त्र प्रत्यक्ष पर आधारित है। उनकी प्रत्येक कृति में छन्दबद्धता का परिचय मिलता है। छन्दः का तात्पर्य है—सत्य पर आधारित क्रमबद्धता। जो कहीं से भी असम्बद्ध तथा बेसुरी नहीं हो, जो पूर्ण अनुशीलन-परिशील तथा साक्षात्कार से परिज्ञात हो। साथ ही उसकी पृष्ठभूमि में परमतत्त्व की कृपारूपी रसधारा प्रवाहित हो रही हो। वह जड़ शब्दमात्र न हो। प्रत्येक शब्द चेतना से ओतप्रोत हो जो श्रोता अथवा अध्येता को अभिभूत कर सके। इसी प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं—

'जापर कृपा करहिं जन जानी
कवि उर अजिर नचावहिं वाणी'

यह कृपारूपी रसधारा जिस दार्शनिक के हृदयरूपी आँगन को सराबोर कर देती है, वहाँ तो एक उत्सव प्रारम्भ हो जाता है। इस उत्सव का कभी विराम नहीं होता। यह मध्यमा वाक् क्रमशः वैखरी के रूप में जनमानस के समक्ष प्रकट होकर रहती है। यह वाणी कवि के 'उर अजिर' से छलक कर इस जगत् को भी रससिंचित करने लगती है। यही है 'काव्यचिन्तना' का स्वरूप। ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति अध्यात्मपरक है।

आलोचनात्मक भी है, परन्तु यह केवल शाब्दिक आलोचना नहीं है। लेखक आलोचक कविराज मानो स्वयं उन कवियों की भाववृत्ति के साथ तदाकार हो गये हैं। जो कवि जिस भाव से अनुप्राणित होकर अपनी काव्य-रचना कर गये हैं, कविराज जी भी उसके भावजगत् में प्रवृष्ट होकर उसका काव्यमय विश्लेषण कर रहे हैं। ऐसी आलोचना शैली क्वचित् कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है। पूरा ग्रन्थ गद्य में लिखा होकर भी एक काव्य से कम नहीं है।

दुर्गापूजा, सन् 2011 ई० **एस.एन. खण्डेलवाल**

बी. 31/32, लंका, वाराणसी

विषय-सूची

सागर-सङ्गीत

देशबन्धु चितरञ्जनदास आज वास्तव में देश के चित्त का रंजन करके आबालवृद्धवनिता की उपासना के भाजन हो गये हैं। उनकी आन्तरिक स्वदेश-प्रीति, अद्भुत आत्मोत्सर्ग, कठोर आदर्श-पालन एवं महनीय चरित्रबल का अनुकरण सर्वजगत् के लिये लाभप्रद है। आज प्रत्येक कण्ठ में उनका नाम उद्घोषित है, प्रत्येक हृदय में उनकी पुण्यस्मृति प्रतिष्ठित है, प्रत्येक जीवन उनके त्याग तथा तपस्या की महिमा से प्रभावित है। उनकी उपासना आज सभी करते हैं। यह कर्मक्षेत्र की कथा है। कर्मबीज चित्तरञ्जन सर्वत्र सुपरिचित हैं।

कर्म का मूल है प्रस्त्रवण भाव राज्य। जहाँ भाव की प्रेरणा नहीं है, वहाँ पर कर्म का विकास सम्भव नहीं है। भाव में जिसे पकड़ा नहीं जा सकता, उसे कर्म के माध्यम से कैसे पकड़ा जा सकेगा ? किन्तु भावमय चित्तरञ्जन को आज कोई नहीं देखता। कर्म में मनुष्य का सम्पूर्ण परिचय नहीं मिलता; क्योंकि कर्म से यद्यपि भाव का बहिर्विकास घटित होता है, तथापि नाना प्रकार के बाह्य अन्तरायवशात् विकास परिपूर्ण नहीं हो पाता। भाव का पूर्ण विकास बहिर्जगत् में कदापि सम्भव नहीं है। भाव का कणमात्र ही बाहर प्रकाशित होता है, शेष अंश अनन्त समुद्र के समान भीतर ही रह जाता है। बाहर के लोग केवल कर्म से उसका संधान नहीं पाते।

सागर-संगीत में हमने चित्तरञ्जन की उस भावमय मूर्त्ति को देखा है। जिन्होंने सागर-संगीत ग्रन्थ का आद्योपान्त पाठ किया, उनके चित्त में भावुक चितरञ्जन का एक आभास प्रतिफलित होते देखा जा सकता है। यह मूर्त्ति अति मधुर तथा हृदयस्पर्शी है। देखकर भूला नहीं जा सकता।

सागर-संगीत के दोष-गुण का विचार करने की हमारी प्रवृत्ति नहीं है। वैसी भक्ति भी नहीं है, न प्रयोजन ही है। काव्यांश को लेकर आडम्बर के साथ समालोचना भी मैं नहीं करूँगा। जिस ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते प्राण शीतल हो जाता है, मस्तक भक्ति से नम्र हो जाता है, हृदय की श्रेष्ठ वृत्तियाँ कुसुम के समान फूट उठती हैं, जीवन में कुछ क्षण के लिये नव वसन्त का संचार होता है, उसकी समालोचना करने का दु:साहस मेरा नहीं है। अर्घ्यदान ही जहाँ तृप्ति है, वहाँ समालोचना सुदूर पराहत है। तब भी यह ग्रन्थ मुझे कैसा लगता है, मैं इतना ही संक्षेप में कहूँगा, तथा यह भी कहूँगा कि मैंने क्या समझा।

बांग्ला साहित्य में काव्य अनेक हैं, सत्काव्य भी कम नहीं हैं, किन्तु यह विचार आता है कि जो सुर चितरञ्जन के कण्ठ से बजा है, वह सुर अत्यन्त कठिनाई से भी अन्यत्र सुनाई नहीं देता। साधक का प्राण तथा कवि का कंठ संयुक्त होने पर जो होना स्वाभाविक है, वही हो रहा है। ऐसा मणिकाञ्चन संयोग विरल है।

किसके प्राण में 'सागर-संगीत' किस तार तथा सुर से बज उठा, यह नहीं जानता। किन्तु यह बोध होता है कि इस मधुर काव्यग्रन्थ की प्रत्येक कविता साधन-राज्य की कथा है। मेरा विश्वास है कि कवि ने स्वयं भी इस विषय में अनेक बार इंगित किया है। जो ऐसा सोचते हैं कि साधना की वस्तु को काव्य का विषय नहीं बनाया जा सकता, उनकी कल्पना सर्वथा समीचीन नहीं है। यदि पुष्प की शोभा, आकाश की नीलिमा, शिशु की मुखकान्ति, सती का सतित्व-गौरव, दया, प्रेम, सरलता, आत्मविसर्जन, हृदय की भाव-शबलता का विषय कविता का अवलम्बन हो सकता है, तब अनन्त सौन्दर्य, अतुलनीय माधुर्य, अप्रतिहत शक्ति तथा पूर्ण ज्ञानमय पुरुष के साथ उनके ही आत्मस्वरूप तथा सर्व प्रकार से उनके ही अनुरूप होने पर भी माया के प्रभाव से आत्मविस्मृत जीव का अनन्त लीलावैचित्र्य क्या कविता का विषय होने योग्य नहीं है ? भक्ति के साथ सम्बन्ध रहने पर कोई भी साधना काव्य का विषय हो सकती है। भाव तथा रस काव्य का प्राण है। जहाँ प्राण है, वहाँ तदुपयोगी देह- संघटन प्राकृतिक नियम से अपने आप ही हो जाता है। जहाँ हृदय रस-संचार से सिक्त है, कण्ठ में वाक्यस्फूर्ति रहने पर साधक वहाँ स्वभावत: कवि ही है, अन्य कुछ नहीं है और वाक्यस्फूर्ति न रहने पर साधक को तब नीरव कवि कहा जा सकता है। रचना केवल कवित्व का प्रकाश है। कवित्व वस्तुत: भीतर की वस्तु है। तब भी जहाँ शुष्क आचार अथवा अनुष्ठान के पालन के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वहाँ विधि-निषेध तो है, किन्तु भाव-संयोग नही है। वहाँ कवित्व का व्यपदेश सम्भव नहीं है।

'सागर-संगीत' मनुष्य के जीवन के अर्धांश का इतिहास है। मनुष्य कहाँ से आया है, इस आलोचना का कोई प्रयोजन नहीं है। वह निरविच्छिन्न अन्धकार-गर्भ से उठा है, किंवा असीम आलोक के राज्य से उतरा है, यह विचार अप्रासंगिक है। किन्तु जब वह जीवरूप से खण्डसत्ता धारण करके प्रकाशमान हुआ है, तब से ही एक व्याकुलता एवं पिपासा लेकर प्रकट हो गया है। जन्म के पश्चात् जन्म, शताब्दी के पश्चात् शताब्दी, युग के पश्चात् युग, वह 'टान' से, खिंचाव से उदास प्राण के साथ बाहर ही बाहर भटक रहा है, किन्तु कहीं भी काव्य-वस्तु नहीं मिलती। प्राण में अतृप्ति तथा अशान्ति प्रबल होती जाती है। इस प्रकार से चलते-चलते समय पूर्ण हो जाने पर वह हठात् एक परिवर्तन का अनुभव करता है, मानों एक नूतन जगत् का आभास हृदय में जाग उठा हो। तभी से उसके नवजीवन का प्रारम्भ होता है। जीवन के प्रथमार्द्ध के अवसान के पश्चात् द्वितीयार्द्ध का प्रारम्भ होता है, सूत्रपात होता है। जीव अब साधक है अर्थात् ज्ञात रूप से साधक है; क्योंकि अज्ञात भाव से सभी जीव चिरकाल से साधक हैं। इस मुहूर्त्त से लेकर चरम विश्राम पर्यन्त समग्र पन्थ साधक द्वारा साध्यलाभ करके सिद्ध होने का इतिहास है। साधना के प्रथम उन्मेष से पूर्णसिद्धि पर्यन्त चित्त की अवस्थापर्याय में जो स्वभावत: प्रस्फुटित हो उठता है, उनमे से कई एक इस अपूर्व काव्य ग्रन्थ में भावमय वाणीरूप से आत्मप्रकाश कर रहे हैं।

मनुष्य जिसको चाहता है, वही उस मनुष्य को चाहता है। मनुष्य अन्धा है, वधिर है, अतः उसे समझ नहीं पाता। उसके मन में आता है कि वह अकेला, निःसंग तथा असहाय है। कथा सम्पूर्णतः सत्य है। कठोर भाव सत्य नहीं है। साथ ही पूर्ण मिथ्या है। जीव का नित्य साथी अवश्य है, किन्तु जीव मोहावरण में होने के कारण आत्मविस्मृत होकर उसे भूल गया है। वह अपने प्राण के प्राण, आत्मा के आत्मा को स्मरण नहीं कर पाता। इसकी स्मृति ही उसे नहीं है। जीव उसे भूल गया है, परन्तु वह जीव को नहीं भूला है। वह सर्वदा ही मोहनिद्रित जीव के सिरहाने खड़ा उसकी ओर अनिमेष प्रेममय दृष्टि किये जागता रहता है। केवल जागता ही नहीं, अविराम जीव का नाम लेकर पुकारता भी रहता है। अनुदिन-अनुक्षण वह गम्भीर अनाहत वाणी उसके अन्तराकाश से ध्वनित होती रहती है, तथापि मोह के कारण जीव की निद्रा (कुहुक) नहीं टूटती। क्या जीव उनके लिये रो सकता है ? वह (ईश्वर) तो अपनी अनन्त आकांक्षाएँ लेकर उसकी प्रतीक्षा में युग-युग से बैठा है। क्षुद्र जीव अपने सहस्रधा विक्षिप्त चित्त से उस अनन्त वेदना का रहस्य कैसे समझेगा ?

भले ही न समझे, किन्तु हठात् एक शुभ मुहूर्त्त में वह पुकार सुन पाता है। भीतर से अन्तर राज्य के समुद्र की घोर गर्जना एक दिन उसके प्राण के राज्य में उठती है और उसे आकुल कर देती है। सद्‌गुरु की कृपा से, भक्तसंसर्ग से, प्राक्तन संस्कार के विपाक के फलस्वरूप अथवा यदृच्छाक्रम से इस अवस्था का विकास होता है। उसे लेकर विचार करना अप्रासंगिक है। किन्तु जिसका जो भी भाव हो, एक बार इस अवस्था का विकास होने पर मनुष्य का चित्त अन्दर और बाहर भाग-दौड़ को अच्छा नहीं समझता; क्योंकि तब एक 'अनमना' भाव का उदय होता है, समस्त हृदय-मन मानो उस नशे से विभोर हो जाते हैं। अपने में आप डूब जाने की इच्छा होती है। जो चित्त क्षेत्र इतने दिनों अन्धकार के आवरण से आच्छन्न था, इस नादध्वनि को सुनते-सुनते वह अपूर्व ज्योति से उद्‌भासित हो जाता है। देह में कभी-कभी अश्रु-रोमाञ्चादि सात्त्विक भाव का उदय हो जाता है। इस अवस्था में अनन्त का एक क्षीण आभास प्राण में फूट उठता है। क्षुद्र व्यक्तिगत सुख-दुःख के सीमा-जाल भंग होकर असीम मुक्त आकाश में उठना चाहते हैं, किन्तु तब भी चित्त में ज्ञान का विकास न होने के कारण सम्यक् रूप से बोधोदय नहीं होता। तब भी यह समझ में आता है कि मनुष्य के सुख की सीमा नहीं है। दुःख का भी अन्त नहीं है। अथच असीम के राज्य में जाकर सुख-दुःख मानो नूतन सार्थकता का लाभ कर लेते हैं। दोनों के बीच एक अपूर्व आनन्द-माधुरी का जो नाना प्रकार का खेल होता है, उसे देख पाते हैं। सुख का माधुर्य जैसा है, दुःख का भी वैसा ही है। इस माधुर्य के भार से हृदय अवनत हो जाता है, किन्तु इसके कारण प्राण अधीर होने लगता है; क्योंकि चित्त शंकाहीन है। जिनके चरणों में दुःख-सुख का समर्पण करके जीव विश्रान्ति-लाभ करता है, अभी भी उन्होंने आत्मप्रकाश नहीं किया है (अभी भी वे छिपे हैं)।

कोथाय राखिब आज ए सुखेर भार,
कारे दिब आज मोर अश्रु उपहार।

आज इस सुख भार को कहाँ रखूँ ? किसे इस अश्रु का उपहार अर्पित करूँ ? सत्य है कि कवि के नेत्र अन्तर के स्वप्नावेश से आविष्ट हैं। अन्तर में आज संगीत का प्रस्रवण बह रहा है, तभी सर्वत्र संगीत तथा सौन्दर्य का उत्स उन्मुक्त हो गया है। साधक के साधन-जीवन का प्रथमांश इस भाव से कटता है। विश्वभुवन के मर्मस्थल में जो अनादि संगीत धारा दूरागत विलाप ध्वनि के समान स्रोत का मन उदास करके, आकर्षण करके, अनन्त नीरवता के बीच अकुल की ओर बहती जा रही हैं, उसके एक बार श्रुतिपथ में प्रविष्ट हो जाने से जीवन की गति बदल जाती है। दृष्टि विकसित होती है, हृदय में स्वच्छता आती है। क्रम से कर्तृत्वबोध विकसित हो जाता है। तब स्वयं को, अपने मन को विश्वशिल्पी के करस्थ यन्त्र अथवा लीलामय के क्रीड़ा-कन्दुक के रूप में समझ जाता है और उसे ही प्रकृत गौरव रूप मानने लगता है। कवि कहते हैं—

आमार जीवन लये कि खेल खेलिले !
आमार मनेर आंखि कि भावेर पूलिले !
आमार परान छिल कूड़िर मतन
तोमार सङ्गीत तारे फुटाले केमन।

अनन्त के आभास से हृदय, मन, यहाँ तक कि समग्र जीवन कोरकावस्था को छोड़कर अनायास विकच पुष्प के समान प्राणोन्मादी सौरभ तथा रूप-लावण्य-परिणाम को प्राप्त करता है। वहाँ जो कुछ सुन्दर है, उस गान के सुर से उसका आवरण उच्छिन्न हो जाता है। मोहान्ध मनश्चक्षु: अपने-आप ही उन्मीलित होता है। किसी के लिये, कुछ के लिये अब चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अनन्त जिस प्रेम भरे 'सान्त' के साथ खेलना प्रारम्भ करता है, तब जो अति दु:साध्य था, वह सहज हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि जगत् में कितनी मधुर स्वरलहरी तो सुनता हूँ, किन्तु उससे इस सागर-संगीत की विशिष्टता क्या है ? उत्तर सहज है। इस शब्द की मोहिनी असीम है। यह संगीत बाह्य वायु के संस्पर्श से भेद प्राप्त करके (भेदित होकर) अनन्त विचित्र आकार में श्रुत होता है। यह सत्य है, किन्तु सूक्ष्म वायु स्तर में, स्तिमित वायु के राज्य में जो अखण्ड ध्वनि श्रुतिगोचर होती है, उसकी आकर्षणशक्ति सीमाहीन है। श्याम की वंशी के सत्य में यमुना उजान बहती है, वृत्तिप्रवाह स्वत: ही ऊर्ध्व की ओर उत्सारित होने लगता है, जगत् का समस्त बहि:स्पन्दन निस्तब्ध हो जाता है। प्रसिद्धि है—

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥
मनोन्मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियमनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः ॥

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते।
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।

मन तब वागुराबद्ध होकर स्थिर हो जाता है। साथ ही असीम की छाया हृदय में भासित हो जाती है; क्योंकि जीव के सीमाबद्ध व्यक्तित्व के अन्तराल में अनन्त व्याप्त रहता है। अत: यह गायन जितना ही आवरण को, आड़ को हटाता जाता है, उतना ही आत्मस्वरूप स्फुरित होता जाता है। अनन्त से प्रेरित इस नाद के प्रभाव के बिना अनन्त के आवरण का उन्मोचन सम्भव नहीं है।

आमार अन्तरतले मुक्त चिदाकाश, अनन्तेर छायाभरा आमार पराण !
सड़दा पाई तारि आमि सङ्गीते तोमार, प्रभातेर आलो मांझे सांझेर आधारे ।।

इस गान में 'अपना' खो जाता है। समस्त जगत् डूब जाता है। देश-काल में तल खोजे नहीं मिलता। इस प्रकार से कुछ दिन अतिवहित हो गये। एक दिन समस्त विश्व के विलीन होने पर चारो ओर, अन्त: में महाशून्य प्रकाशित हो जाता है। इस अनन्त शून्य के वक्ष पर शान्तिमय हास्य का स्निग्ध ज्योत्स्ना-जाल विकीर्ण हो जाने से स्वप्न के समान पूर्णचन्द्र का उदय होता है, इष्टदेव की एक अस्पष्ट प्रतिच्छवि चिदाकाश में फूट उठती है। उसकी माधुरी कितनी गम्भीर है, नहीं कहा जा सकता। उस मायामय छायामय स्वप्नवत् सुमधुर आलोक में एक अपरूप इन्द्रजाल रचित होता है। जीवन की विस्मृतियों को भंग करके सहस्रों जन्मों के हास्य-रुदन, सुख-दु:ख की स्मृति अस्फुटरूपेण सामने आने लगती है। अतीत जीवन मानों एक स्वप्नमय चित्रपट के समान वर्तमान के साथ एकाकार रूप में भासित होने लगता है।

साधक की प्रथमावस्था का अवस्थान यहीं पर है। यहाँ जिस पूर्ण चन्द्र का उदय हुआ है, समस्त हृदय उसकी स्निग्ध करलहरी में भासित हो गया। यह सत्य ही है एक अपूर्व इन्द्रजाल, साधक के अनावृत आत्मस्वरूप की एक क्षीण छाया दिखलाकर उसके मन को प्रलुब्ध करने की एक कुशलता मात्र है। यह शशांकरचित पूर्णिमा-यामिनी चिरस्थायी नहीं है। इस तथ्य को साधक अविलम्ब अश्रुसिक्त नयनों से देख लेता है। अभाव के गये बिना भाव के साथ सम्यक् परिचय नहीं होता। दुग्ध दावानल के विदग्ध हुये बिना आनन्द की अमृतकला का शीतस्पर्श अनुभव में नहीं आता। यह साधन जीवन का एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। किन्तु यह अभाव पहले ही नहीं आ जाता; क्योंकि परम सौन्दर्य का एक आभास यदि स्मृतिरूप से हृदय में धारण करके न रखा जा सके, तब दीर्घ विरह की घड़ियाँ (विरहावसर) किसके चिन्तन में कही जा सकेंगी ? इसलिये चिरसुन्दर अपने अनन्त सौन्दर्य के कणमात्र का चित्त में संचार करके, उसे विमुग्ध करके आकृष्ट करता है। तदनन्तर उसका अन्धकार में आत्म-शोधनार्थ विक्षेप कर देता है। तब साधक आलोक न रहने पर भी आलोक की स्मृति को ही लेकर इस दीर्घ अन्धकार की निशा को काट सकने में सफल हो जाता है।

आजि मेघपूर्ण दिन धूसर आंधार !
तरङ्ग तरङ्परे भरे झांपाय पड़िछे,
आशान्त वेदना भरे दूलिछे फूलिछे
कांपिछे गर्जिछे जेन महाहाहाकार !

इस अवस्था की वर्णना के प्रसंग में कवि गा रहे हैं—यह जो रुद्रलीला है, प्रियतम की यह जो संहार मूर्त्ति है, क्या इसका कोई अर्थ नहीं है ? क्या यह निरवच्छिन्न निष्ठुरता है ? कवि ने यह उपलब्धि किया है या नहीं ? क्या यह सुख है, क्या यह दु:ख है ? क्या यह गम्भीर प्रलय है ?

गम्भीर वस्तु ऐसी ही होती है। सीता के अंगस्पर्श को एक दिन राम भी नहीं समझ पाये थे—

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु:खमिति वा ।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प: किमु मद: ।।

घोर अन्धकारपूर्ण निशीथ में, मेघाडम्बर अथवा वज्रध्वनि के मध्य प्रलयझंझा अथवा मरणोच्छ्‌वास की उत्ताल तरंग अथवा कालभैरव की भीषण हुंकार तथा निशाचर का विकट नृत्य जीव की आराम-प्रियता तथा क्षुद्र अहंकार के नागपाश को काट देती है। इस घोर झटिका से साधक की नौका का पाल छिन्न हो जाता है, पतवार टूट जाती है। उसके आमित्व की तरणी अगाध प्रलय पयोनिधि में आश्रयहीन असीम अन्धकार-समुद्र में निर्वाणोन्मुख होने लगती है। साधक तब युक्त कर से (हाथों को जोड़कर) कहता है कि 'तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो' और श्रीभगवान् के पादपद्म में अपनी स्वाधीनता, समस्त पुरुषकार का विसर्जन कर देता है। उनके समक्ष युद्ध में पराजय स्वीकार कर लेता है। मनुष्य का दर्प तथा आत्म गम्भीरता इस प्रकार से अब पूर्ण है। वह जान लेता है कि मरण का सादर आवाहन किये बिना अमृत-प्राप्ति का अधिकार नहीं मिलता।

जब क्रमश: इस प्रकार से हृदय विनम्र हो जाता है, तब रण-कोलाहल की निवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति शान्तिपूर्ण मूर्त्ति धारण कर लेती है। अब अन्त: तथा बाह्य में साम्यभाव की प्रतिष्ठा हो जाती है। किसी प्रकार के विरोधी तत्त्व नहीं रह जाते। इस अवस्था में कवि कहता है—

आमार पराण तरे वृथा युद्ध करा,
आमि तो आपना हते दितेछिनु धरा !
ज्वेले दिव सन्ध्यादीप तोमार पराणे,
हृदय मन्दिर तव भरि दिव गाने।
पातिव तोमार तरे शय्या सुशीतल
तोमार चरणतले रवे शान्ति जल !

रुद्र की भैरव मूर्त्ति के अन्तराल में जो शान्तिमय प्रिय मूर्त्ति गुप्त थी, अब वह प्रकट है। साथ-साथ साधनमार्ग का द्वितीय स्तर भी उत्तीर्ण हो गया! अब साधक मृत्युराज को पार करके अमृत देश में पुन: पदार्पण कर रहा है। इस बार प्रभु साधक के हृदयरूप नन्दन कानन में प्रत्यावर्त्तन करते हैं, वापस आ जाते हैं। अब प्राण आनन्द से मतवाला है।

चतुर्दिक् मृदुमारुत हिल्लोल नाना प्रकार के कुसुम के सौरभ से आमोदित है। प्राण भी आनन्द से मतवाला है। इतने दु:खों के पश्चात् जीव मन में बहुत आशाएँ लेकर बैठा है कि प्रभु इसी समय इस संगीतमय, पुष्पमय लीलाकानन में उसे बुला लेंगे। इस आशा को लेकर प्रतीक्षा करते-करते एक दिन साधक सच में उनका दर्शन पा लेता है। अपूर्व ज्योतिर्मण्डित तरुण देह, मणिरत्नमय नाना विभूषण से अलंकृत, दोदुल्यमान दिव्य प्रेममय राजमूर्त्ति! दर्शनमात्र से प्राण में विद्युत तरंग क्रीड़ा करने लगती है। चिरजीवन की सुप्त आकांक्षाराशि प्रबल हो जाती है।

इष्टदेवता के प्रथम सन्दर्शन में साधक के हृदय में जिस अपूर्व भाव का विकास होता है, उसे विश्लेषण करके समझा सकना कठिन है। एक तीव्र मादकता, एक भाषाहीन प्रबल आवेश प्राण को आच्छन्न कर देता है। उसके स्वरूप की व्याख्या कर सकना कठिन है।

तब यह बात सत्य है कि भाव के मध्य में आनन्द तथा विषाद, इन दोनों का समावेश है। कोई यह न समझ ले कि श्रीभगवान् का आभास देखकर मनुष्य के हृदय में विषाद का संचार होना अस्वाभाविक है। साधना में उच्चतर उठने के साथ-साथ आनन्द तथा विषाद, दोनों की वृद्धि होती है। चित्त के स्वच्छ हो जाने से साधक जगत् के सुख-दु:ख से अतीत होकर अपने स्वरूपानन्द में मग्न हो जाता है, किन्तु ठीक तभी पुन: इस स्वच्छतावशात् जगत् का सुख-दु:ख उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। बोधिसत्व, ख्रीष्ट, गान्धी के समान दु:खी कौन है? इनके चित्त ने जगत् के साथ तादात्म्य-लाभ किया है, अत: जगत् का सुख-दु:ख उनमें उदित हो जाता है। यह दु:ख लौकिक अथवा व्यक्तिगत दु:ख नहीं है। लौकिक दु:ख-सुख-जैसी स्थिति की सम्भावना इन लोगों में नहीं है। जिस निर्मल आनन्द में शुद्धसत्व महापुरुषगण प्रतिष्ठित रहते हैं, वह ऊर्ध्वसत्व इन्द्रियजन्य किंवा मानसिक सुख-दु:ख से बहुत ऊर्ध्व में अवस्थित है। महाप्रभु चैतन्यदेव जिस जीवदया के माहात्म्य का प्रचार कर गये हैं, उसका मूल प्रस्रवण है इस सर्वव्यापक दु:ख की अनुभूति। वैष्णवों की भाषा में वही है जीवों पर दया तथा बौद्धों की भाषा में वह है करुणापुण्डरीक। साधनराज्य में अग्रसर होते-होते स्वार्थविलोल तथा परार्थबोध का उदय होने के साथ ही यह करुणापुण्डरीक विकसित हो जाता है। एक दिन जो अपने क्षुद्र सुख-दु:ख की ग्रन्थि में आबद्ध था, अब वह स्वयं को भूलकर विश्व-जगत् के दु:ख से अभिभूत होकर करुणा से विगलित हो जाता है। यह है 'Sad Music of Humanity'। यह संगीत उसके कानों में प्रवेश करके उसे विवश कर देता है।

योगभाष्यकार व्यासदेव कहते हैं—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।

जैसे पर्वत के उत्तुङ्ग शृंग पर चढ़कर दृष्टिपात करने पर भूमिस्थ उच्च तथा निम्न सभी वस्तु समतलवत् प्रतीत होती है; वैसे ही प्रज्ञा की चरमभूमि—चरमसीमा पर उपनीत होकर, स्वयं शोकातीत होकर—शोक-ताप में निमग्न जगत् की ओर देखनें से प्राज्ञ साधक को सर्वत्र समान रूप से दुःख दिखलाई पड़ता है। तब समझ में आता है कि एक ही दुःख का एक स्रोत भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे सर्वदा एवं सर्वत्र समभावेन प्रवाहित है। इस जगन्मय विराट् दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करके उसका प्राण तक रो उठता है और हृदय में करुणाभाव का संचार होने लगता है। भगवान् का राजवेश देखने पर भी साधक आज उसी करुणाभाव से अभिभूत है।

आजि जे आकाश गाहे करुण सुरे !
हृदय उदास करा करुण सुरे।
मेघेरा कि कथा कहे, वातास कांदिया बहे
सागर चूमिया आर गगन घूरे-
करुण सुरे।
किवा खोजे किवा चाय, कोथा थेके कोथा जाय
दूरे अदूरे !

यह जो जगत् है, यह तो उसी अनन्त का ही एकदेश मात्र है। अतः यह दुःख भी उस अनन्त की ही हृदय-वेदना है। अनन्त के मर्मस्थल के अनन्त प्रकार के ऐश्वर्य तथा आनन्द के मध्य भी जो अनन्त आर्त्ति अनन्त काल से क्षुधातुर शिशु की तरह सिसक-सिसक कर रो रही है, बाह्य जगत् उसका कोई संवाद नहीं रखता ! केवल अन्तरंग जन, जो अनन्त के प्रिय संगी हैं, वे ही उसका संवाद रखते हैं, जानते हैं। वह राजराजेश्वर भी कंगाल है, वह भगवान् भी भिखारी है ! उस असीम प्रेममय के हृदय की वेदना, आनन्द क्रन्दन धारा, विराट् क्षुधा, अतृप्त पिपासा चिर अज्ञात है। जो अनन्त के अन्तरस्पर्शी नहीं हैं, वे भी व्यथा का परिचय नहीं पाते। किन्तु अन्तःपुर में जो साधक प्रविष्ट हो गया है, उसकी प्रेमविदग्ध दृष्टि में कुछ भी अज्ञात नहीं रहता। कुशल चाहनेवाले चक्षु अत्यन्त तीक्ष्णदर्शी हैं। कवि कहते हैं—

ओगो कतकाल धरे बहितेछे तुमि
ए गीत वेदनाराशि हृदय भरिया।
कत जन्म जन्मान्तर कतयुग युगान्तर।
ओगो कत युग हते ओ चित्त चूमि
ए गान ध्वनिछे विश्व पागल करिया।

कत युग युगान्तर, कत जन्म जन्मान्तर
हे अनादि, हे अनन्त, तव व्याप्त महिमाय
ए चिर क्रन्दनधारा केमने बहिया जाय
कांदितेछे एकि क्षुधा एकि तृष्णा अनिवार !
एकि व्यथा गरजिछे श्रान्तिहीन दुर्निवार !
कत जन्म जन्मान्तर कत युग युगान्तर !

सान्त के लिये अनन्त की यह क्रन्दन ध्वनि जगत् से जुड़कर जाग उठती है। जब अनन्त सान्त को खींचकर वक्ष में लगा लेगा, तब इस क्रन्दन का अवसान होगा। यह वेदना है विरह की यन्त्रणा। अपरिचेय से मिलन तथा परिचय हुए बिना इसका उपशम नहीं है।

सत्य में यहाँ परिचय नहीं है। न तो जीव ईश्वर को पहचानता है, न ईश्वर ने जीव को पहचाना है। यह अवश्य है कि जीव ने राजवेश में इष्ट देवता का सन्दर्शन-लाभ अवश्य किया है, किन्तु यह पूर्ण दर्शन नहीं है। छिन्न वस्त्रधरी पथ के भिखारी के साथ नाना रत्नमण्डितकाय राजराजेश्वर का साक्षात्कार! यहाँ इन दोनों में परिचय की सम्भावना ही नहीं है। कंगाल के साथ कंगाल होकर, राजा के साथ राजा होकर ही मिलन सम्भव है। जीव ने जितना भी दर्शन पाया है, उसमें भगवान् को कंगाल के वेश में नहीं देख सकता है। किंवा जीव को राजवेश की प्राप्ति घटित नहीं हो सकी है। अतः इन दोनों का प्रकृत मिलन सम्भव नहीं हो सका।

जीव का दर्शन अपूर्ण है; क्योंकि भगवान् के—राजेश्वर के अन्तस्तल में जो भिखारी वेश में दीनहीन रुदन कर रहा है, उसे वह नहीं देखता। वह ईश्वर होकर भी कंगाली है। उसके ऐश्वर्य को देखकर हम भ्रमवशात् यह सोचते हैं कि हमने उसे पहचान लिया। ऐश्वर्य है बाह्यविभूति। अंग का आभूषण है। (आभूषण ईश्वर नहीं है)। किन्तु इस ऐश्वर्य के अन्तराल में उनका (भगवान् का) जो माधुर्य तथा दैन्यमय स्वरूप है, वह जीव की ऐश्वर्यलिप्सु दृष्टि से अगोचर रह जाता है। जबकि वह भी उसके लिये दर्शनीय है। जैसे इस जगत् में इस ऐश्वर्य का लेशमात्र ही प्रकाशित है, उसी प्रकार यह माधुर्य तथा दैन्य भी प्रकाशित है। जगत् में जितना दुःख है, जितनी वेदना है, सब इस अनन्त वेदनाराशि की एक कणिकामात्र है। प्रियजन के साथ मिलन ! यह मिलन केवल सुख में ही आबद्ध नहीं है। इसमें दुःख भी आत्मप्रकाश करता है।

किन्तु अनन्त का दुःख किसलिये ? सान्त के लिये। यद्यपि अनन्त ने सान्त को वक्ष में जकड़ रक्खा है, यद्यपि सान्त कदापि अनन्त के बिना अपनी सत्ता का प्रकाश नहीं कर सकता, तथापि वह इसे नहीं समझता। वह सोचता है कि वह विरही है, एकाकी है, निःसंग है। तभी उसके फलस्वरूप अनन्त भी विरहातुर है। दोनों के मिलन से, अर्थात् जब सान्त का विरहभ्रम कटेगा, तभी अनन्त की इस वेदना का अवसान होगा। जीव अनन्त से प्रेम करता है, तभी उसकी प्राणनिहित जगन्मय वेदना को अपना

लेना चाहता है। स्वयं भी अनन्त के गायन को, जगत् के दुःख में करुणागीत लहर को मन-प्राण से गाते-घूमते रहना चाहता है—

आज हते आमि, हे अर्णव ! हे अशेष !
गाहिब तोमार गान फिरि देश-देश।

वास्तव में जीव और ईश्वर का सम्बन्ध है प्रेम का सम्बन्ध। सख्य का सम्बन्ध। कवि कहते हैं—

'आमि आछि तव छोट भाईटीर मत'।

यह जो उपनिषद् में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' कहा गया है, एक वृक्ष में दो सखाभावापन्न विहंगम के दृष्टान्त द्वारा समानाधिकरण अथच भिन्नधर्माक्रान्त दो तत्त्वरूप से जीव तथा ईश्वर के रूप की व्याख्या किया गया है। एक महाशक्ति से ईश्वर तथा जीव, उभय सत्ता का ज्ञान होता है। एक है सर्वज्ञ-सर्वशक्ति, दूसरा है अल्पज्ञ-अल्पशक्ति। एक ही मूल स्थान से प्रकटित होने से दोनों ही प्रेम के सूत्र से सम्बद्ध हैं। यह महाशक्ति ही जीव तथा ईश्वर, दोनों का ही योगस्थल है। कभी कवि उसे 'परपार' अथवा 'उस पार' कहता है। कभी 'नित्यधाम' कहकर वर्णन करता है। उसके लिये स्पष्टतः उल्लेख करता है कि वह नित्य, आद्यन्तविहीन है—

अनादि अनन्त नित्य महाप्राण हते
दूजने एसेछि जेन दूटि प्राण स्त्रोते !
तारपर कतबार जनमे जनमे
आमरा मिलेछि दोंहे मरमे मरमे,
कतबार छाड़ाछाड़ि मिलेछि आबार
तुमि आर आमि आज ओगो पारावार !

उस प्रथम (?) आविर्भाव से आज पर्यन्त कितने बार मिलन, कितने बार विरह संघटित हुआ है, किन्तु जो परमा शांति है, उसकी उपलब्धि अब तक नहीं हो सकी।

तुमि भेसे जाओ सखा ! अनन्तरे पाने !
आमि जे भासिछि शुधु तोमारि ए गाने।

इस अनन्त के साथ इष्टदेवता का योग है। आज इष्टगत प्राण साधक के हृदय में उस अनन्त का भाव फूट उठा है। हृदय में विशालता आ गयी है। अभी भी अन्धकार कटा नहीं है, परिचय का स्फुट आलोक भी अभी उदित नहीं है, अभी भी अनन्त का रूपदर्शन नहीं हो सका है। किन्तु जगत् का समस्त सुख तथा समस्त दुःख मानो साधक हृदय में अस्पष्ट भाव से पीड़न कर रहा है। यद्यपि अभी भी वह शब्दातीत होकर शाश्वत पद का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकता है, तब भी यह सत्य है कि वर्तमान अवस्था में वह शब्द के माध्यम से ही शान्त का, शब्दातीत वाणी का आभास प्राप्त कर सका है। अर्थात् आभासरूपेण समझ सकता है। आभास भले ही हो, किन्तु

इस आभास से ही उसकी साध का क्रीड़ा गृह, कृत्रिम प्रकाश से प्रकाशमान स्वप्नमय चित्रराजि, सब मग्न हो गया। अनन्त को भूल कर क्षुद्र सीमाबद्ध की पुत्तलिका द्वारा जीव खेल रहा है। उसे ही मन-प्राण का समर्पण करके उसने स्वयं को कारागार में आबद्ध कर लिया है। किन्तु कब तक ? इष्टदेवता परिच्छिन्न नहीं है, उपास्य असीम नहीं है, यह उसे एक दिन अवश्य समझ में आ जायेगा ! महासमुद्र की जलराशि ज्वार के वेग से गम्भीर गर्जन के साथ जब शुष्कप्राय: तटिनी पर अकस्मात् जल का संचार कर देती है, तब वन्याप्लावन से दुकूल भासित हो उठता है। तटिनी स्वयं महासागर की विशालता धारण करके अनन्त की छाया का प्रदर्शन करने लगती है।

इस समय जीव सन्धिक्षण में है। दिन का आलोक तथा रात्रि का अन्धकार, ज्ञात तथा अज्ञात दोनों ही एक स्थल पर समाहित है। 'आलो! अन्धकार झरे तोमार सकल गाय'। एक अपूर्व भाव का स्फुरण हो रहा है ! मानो ठीक से यह आलोक नहीं है, अन्धकार भी नहीं है। जैसे वायु का स्पन्दन भी यहाँ पर निरुद्ध है। कूटस्थ साक्षी के अचपल निर्निमेष नयनों के समान दिगन्तव्याप्त उदास्यमय निर्लिप्त चिदाकाश मानों प्रशान्त भाव से ताक रहा है। आज मानो महासत्तासागर में इष्टदेवता स्वयं विसर्जित हो रहे हैं। तभी कारुण्यपूर्ण विसर्जन की धुन बज रही है। इस धुन में प्राण का विषाद तथा मन की द्विधा जड़ित है। विषाद को इस सुन्दर भुवन को छोड़कर आमित्व तथा तुमित्व का त्याग करके जाना पड़ेगा, असमाहित जीवन समस्या को साथ लेकर छिन्नतंत्री हृदय की व्यथा का अनुभव करते-करते जाना होगा। द्विधा से चलित मन अग्रसर होकर पुन: वापस आ जाता है। मन में आता है 'क्या यह सत्य है, क्या यह मिथ्या है ? क्या यह आशा है ? क्या यह भय है ? अतल में डूबते समय प्राण ऐसा ही हो जाता है। गौड़ पादकारिका में, पञ्चदशी में वर्णन है कि अनेक साधक सविकल्प भूमि छोड़कर निर्विकल्प में छलांग लगाने में भयभीत हो जाते हैं। मन में आता है कि महाशून्य उसे ग्रस लेगा। मन यह नहीं जानता कि तब महाशून्य स्वयं ही पूर्ण-स्वरूप में तिरोहित हो जाता है।

किन्तु तब इस द्विधा में पड़े रहने से नहीं चलेगा। वहाँ से उतरना पड़ेगा (द्विधा से उतरना ही पड़ेगा)। तब साधक के जीवन में एक अवस्था और जाग जाती है। दिव्य चक्षु खुल जाने से उसका वर्णन भी विचित्र हो जाता है। वह देख पाता है, समझ पाता है कि इसका उपास्य ही पुजारी है। उसका अपना प्राणप्रदीप ही आरती का दीपसंभार भी है। उसका पवित्र हृदय ही धूपवासित मन्दिर है[1]। उसके अन्तराकाश में स्थित अनाहत ध्वनि ही आरती का शुभ शंखनाद है। किन्तु यह आरती किसकी है ? पूजा

1. 'शिष्य में वे (सद्गुरु) अपने इष्ट देवता को प्रतिष्ठित करके उसकी सेवा पूजा करते हैं। शिष्य का देह उनका देवमन्दिर है। ......सद्गुरु प्रदत्त नाम जो है, वह नाम नहीं है, अक्षर नहीं है, एक शब्द भी नही है। यह नाम ही भगवान् की अनन्त शक्ति है। शिष्य के अन्दर यह शक्तिसंचार ही सद्गुरु प्रदत्त दीक्षा है।'

(द्रष्टव्य—श्री श्रीसद्गुरुप्रसंग, तृतीय खण्ड बंगाब्द 1298, पृष्ठ 304)

किसकी है ? कौन जानता है ? अन्तर के द्वार पर आकर साधक आज अपने इष्ट को गुरुरूप में, भक्तरूप में प्रत्यक्ष कर रहा है। उनसे शक्ति ग्रहण करने के लिये प्राण व्याकुल हो उठा है—

'आरतिर शंख जेन उठिल बाजिया
तोमार पूजार लागि, धूप धूना दिया।
पुण्यधूमे सुपवित्र हृदयमन्दिर !
उदासी सङ्गीत तब बाजिछे गम्भीर।
हे पुजारी ! आज तुमि कोन पूजा कर ?
पराणप्रदीप मोर उर्ध्वे तूलि घर,
कार पाने, कोन मन्त्र करि उच्चारण,
कोन पूजा लागि बल एत आयोजन ?
दीक्षा दाओ ओगो गुरु ! मन्त्र दाओ मोरे
पूजार सङ्गीते तव, प्राण दाओ भरे !

इस पर सद्गुरु-प्रदत्त शक्तिपात से साधक की समस्त चंचलता, वासना कट जाती है। पूरबी रागिनी की हृदय उदास करने वाली गम्भीर झंकार से चारो ओर वैराग्य का सुर बज उठता है। तरंग शान्त होने पर, वायु स्थिर होने पर आकाश का क्षीण आलोक डूबने लगता है। ज्योतिष्कमण्डल पर्यन्त महान्धकार में विलीन हो जाता है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा शब्दविहीन वह अनन्त व्योम ही इस महाशून्य में जाग्रत् रह जाता है। अब ईश्वर शून्यमय है, जीव भी वही है। विदित होता है कि इस महानिर्वाण में ही सभी प्रेम का अवसान है। सभी कर्मों की परिसमाप्ति है। वह भले ही मायाहीन हो, तब भी वह है छायामय अन्धकार से आच्छन्न अवस्था। जीव तथा ईश्वर दोनों में ही अपने को अपने में गुप्त अथवा मग्न रखने की अवस्था। कवि कहते हैं यही है 'योग'। इस महाशक्ति में जगत् का जितना विक्षोभ चिरकाल के लिये विलुप्त हो गया है, उस आनन्द में सभी विषाद मग्न हो गया है। क्या मात्र यही है ?

सकल प्रकृति आज पद्म हये भासे जले,
महाकाल थेमे गेछे तोमार चरण तले।
आमार वक्षेर परे योगासने योगिवर,
निबिड़ निश्वासहीन धीर स्थिर आंखि कर !

यह भी चरमावस्था नहीं है। कवि भक्त होता है। वह इस अवस्था में तृप्त नहीं रह सकता। इसके अनन्तर भी सुन्दर अवस्था है, वह है लीला का प्रकाश। यहाँ उसका आभास मिलता है, किन्तु सन्धान नहीं मिलता।

पेयेछि आभास आमि पाइनि सन्धान तार,
युक्त करे बसे आछि कर मोर एकाकार।

अत: यह समझना होगा कि अभी भी एकाकार का भाव नहीं आया है। अभी भी प्रतीक्षा है। इस प्रकार का भाव ही लीला का प्रकाश है। बाह्यभाव रहने से लीला में प्रवेश नहीं मिलता। क्रमश: यह बाह्यभाव भी कट जाता है। तब हृदय में भक्ति के पुष्प खिलने लगते हैं। जगत् भगवद्भाव से भर जाता है। तब और निरोध की आवश्यकता नहीं होती। पुन: तरंगें नाचनें लगती हैं। पुन: वायु से हिल्लोल उठने लगती है। जीवन का प्रवाह पुन: उसी तरह चल उठता है। विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही हरिनाम की कीर्त्तन ध्वनि, करताल मृदंग का मधुर स्वर श्रुतिगोचर होने लगता है।

साधन भजने आजि कुसुम उठेछि फूटि
सकल गगन भरे तोमार नयन दूटि
भक्ति रस टुलु-टुलु ! विगलित करुणाय
तोमार तरङ्गदल नेचे नेचे बहे जाय।
गगन भरिया गेछे सघन गम्भीर बोले
चराचर छेये आछे मधुर कीर्त्तन रोले।

चारों ओर के अपार माधुर्य में भक्त के हृदय में तब विरह रस जाग उठता है—

देवतार तरे आजि आबार आकुल हिया
ढेकेछे ढेकेछे मरि ! कि मधुर विरह दिया।

यह मिलन-विरह का चक्र तब घूमता रहता है। जब भक्त भगवान् में डूब जाता है, तब दोनों एकाकार हैं। तब न तो भक्त हैं, न भगवान्। यह है मिलनावस्था। यह जब भासित हो जाती है, तब दोनों की स्वरूपस्फूर्ति होती है और दोनों में किंचित् व्यवधान, अभेद में भी भेदाभास रहता है। यही है विरहावस्था—

प्राणाराम प्राणाराम ! तोमा पाई कि ना पाई,
आमि भेसे उठि, आमि डूबे डूबे जाई !

इस अवर्णनीय रहस्य की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। ज्ञानदृष्टि में इसमें डूब जाना ही ब्रह्मसम्पत्ति अथवा प्राप्ति है। पुन: इसमें से उतरा जाना ही विच्छेद है। भक्ति दृष्टि से डूब जाना ही विरह है। कारण तब भगवान् खो जाते हैं (डूबने से)। पुन: उतरा जाना ही मिलन है। वास्तव में दोनों में कोई भेद नहीं है। दृष्टिभेद के कारण ही भेदप्रतीति होती है। एक ही नित्य अवस्था का एक पृष्ठदेश है मिलन, अन्य पृष्ठदेश है विरह। जब मिलन है तब विरह नहीं है, जब विरह है तब मिलन कहाँ ? किन्तु सम्भोग तथा विप्रलम्भ दोनों ही समान रूप से आनन्दावस्था है।

सामान्यत: मन से पार स्थिति में ही सब परिसमाप्त हो गया। ग्रन्थ का भी यहाँ अवसान उचित है। किन्तु कवि तो कहते हैं कि यहाँ भी शेष नहीं है। अभी भी तृष्णा नहीं मिटी है। यही मिलन-विरह यद्यपि नित्य हैं तथा अप्राकृत है, तब भी यह इस पार की वस्तु है। इसमें भी साधक उस आकांक्षित वस्तु को नहीं पाता। उसके रहस्य का

समाधान अभी भी नहीं हो सका। भिखारी भगवान् को, कंगाल ठाकुर को अभी भी नहीं देख सका। जिसके लिये उसके प्राण रुदन कर रहे हैं, उसका भी प्राण इसके लिये सदा रोता रहता है। इसे वह अभी भी नहीं जान सका है। राजवेश में राजेश्वर की मूर्त्ति देख लिया, जगत् में करुणा का प्रवाह देख लिया, अनन्त का आभास भी अनुभूत हो गया, संसार की मोहिनी मूर्त्ति भी टूट गई, वैराग्य की छाया ने हृदय को छू लिया, गुरुवेश का प्रत्यक्ष करके तत् प्रदत्त शक्ति की सहायता से जगत् को विलीन करके सबको मिटाकर महाशून्य में अवगाहन कर लिया! साथ-साथ देश-काल का सीमातिक्रमण करके योगावस्था में योगीरूप का दर्शन प्राप्त कर लिया, तदनन्तर जागकर भीतर-बाहर लीलाप्रकाश का अनुभव किया तथा भक्तरूप से साक्षात्कार भी किया। इस भक्ति-अवस्था में ही विरह-मिलन, द्वैताद्वैत का, पर्यायक्रमेण उभय के स्वरूप का बोध प्राप्त हो गया। यह है शृंगार रस अथवा आदि रस की अनुभूति की स्थिति। साधारणतः इसके पश्चात् क्या है, कोई नहीं जानता, कोई नहीं जाता, अथवा वहाँ जाना भी सम्भव नहीं है। सभी जानते हैं कि शृंगार ही सर्व रसों का आदि है।

किन्तु कवि हमें एक नूतन अवस्था का सन्देश देते हैं। वे कहना चाहते हैं कि करुणा ही मूलवस्तु है। शृङ्गार मूल नहीं है। यह बात पूर्णतः नई नहीं है। भवभूति ने बहुत पूर्व ही यह बात कह दिया है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भजते विविधान् विवर्त्तान्'।

वर्त्तमान युग में 'त्रिवेणीसंगम' नामक प्रबन्ध में ऐसा इंगित प्राप्त होता है। युगल प्रेम की सार्थकता तृतीय में होती है। परस्पर में नही होती। जैसे स्वामी-स्त्री की परस्पर प्रतीति शिशु के प्रति स्नेह से सफल होती है। यहाँ भी करुणा की वाणी ही अनुभूत होती है। जब तक भगवान् का कंगाल तृष्णाकुल वेश नहीं परिलक्षित होता, तब तक साधक के हृदय की आकांक्षा नहीं मिटती। साधक जानना चाहता है—

ओपारे कि बसे केह तृष्णार्त्त आकुल,
पराण परश तरे आभारि मतन?
ओपारे कि देखा जाय, अनन्त अतुल
तोमार अन्तर छाया पराण स्वपन?
आमि जे तृषित बड़, ओगो महाप्राण!
आमि जे तृष्णार्त्त अति पराण माझारे!
आमारे डुबाये दाओ ओगो महाप्राण!
आमारे भासाये लओ, तोमार ओपारे!
तबे कि मिलिबे मोर आशार स्वपन?
काङ्गाल पराण हवे राजार मतन?

जो महाप्राण, जीव तथा ईश्वर की योगभूमि है, आज उसके ही प्रान्तदेश में साधक उपनीत है। यही है कवि की भाषा में 'ओपार' तथा 'परपार'।

भाव राज्य यहीं महाभाव में शेष हो गया। यही महाभाव यद्यपि अनन्त अवश्य है, तब भी इसमें सान्त के साथ सम्बन्ध भी है। इसीलिये सीमा पूर्णतः त्यागा नहीं है। यहीं से भूल दिखलायी पड़ जाती है। साधक भूमि में 'इस पार' तथा 'उस पार' दोनों का त्याग करके 'अपार' में मगन होने के लिये उद्यत है। आज सर्वभाव चरमभाव तथा महाभाव में से होकर भावातीत में प्रवेशोन्मुख है। कवि कहते हैं—

एपार ओपार करि पारि ना त आर !
आज मोरे लये जाओ अपारे तोमार !
पराण भासिया गेछे कूल नाहि पाई !
तोमार अपार बिना कोथा तार ठाईं !

आज अपार के लिये कवि हृदय पागल है। जिसे इस पार खोजकर नहीं पाया, जिसका उस पार भी सन्धान नहीं मिला, आज उसी की आशा में, अथवा उस आशा का भी विसर्जन करके, वह उसी अपार में डूबने के लिये व्यग्र है !

खूंजेछि तोमारे कत तरङ्गेर माझे,
खूंजेछि जेखाने तव गीतध्वनि बाजे !
तोमार अपूर्व ओई आलो अन्धकारे।
प्रतिदिन प्रतिरात्र खूंजेछि तोमारे !

किन्तु पाया नहीं गया। यह तरंग, यह आलोकमय गीतिमय भावराज्य अब सदा शान्त है। आलोक-अन्धकार से ओतप्रोत, शब्द तथा शब्दातीत की सन्धि का स्थल यह महाभावराज्य, कहीं भी रहस्य का समाधान नहीं हो सका। तभी आज कवि की अन्तिम आकांक्षा समस्त परिच्छेदों का उल्लंघन करके उस तुर्यातीत में प्रवेश कर रही है। जो जीव के चिरसखा अथ-च नित्यगुरु हैं, जो सीमा में रहकर भी सीमातीत हैं, जो एक होकर भी अनेक अथच एक-अनेक की गणना से परे भी हैं, जो विश्वात्मक होकर भी विश्वनायक अथच स्वरूपतः विश्वोत्तीर्ण हैं, जो सर्ववैषम्य की साम्यभूमि अथच स्वभावतः उससे अतीत हैं, इस पार, उस पार, अपार सभी जिनका स्वधाम है, अथच जो धामवर्जित हैं, जिनका सत्-असत्-सदसदुभयात्मक तथा सद्-असत् दोनों से विलक्षण सब कुछ एक ही समय में कहा जाता है, अथच जो चतुष्कोटि से नित्यविनिर्मुक्त हैं, वे ही जीव की चरम प्रार्थना पूर्ण करेंगे—

हे मोर आजन्म साखा ! काण्डारि आमार !
आज मोरे लये जाओ अपारे तोमार !

'सागर-संगीत' को पढ़कर मेरे मन में जिन कई बातों का उदय हुआ था, यथा—सम्भव संक्षेप में उसकी आलोचना की गयी। इसे यदि कोई 'सागर-संगीत' की व्याख्या मान ले, उसमें मेरी कोई आपत्ति नहीं है। तब यह याद रखना होगा कि ऐसी व्याख्या अनेक हो सकती है, किन्तु कोई भी व्याख्या मूल ग्रन्थ का अनुकल्प नही हैं।

काव्य उपभोग की वस्तु है, आस्वादन की सामग्री है, व्याख्या तो संश्लेषण तथा विश्लेषणमूलक बुद्धि का व्यापारमात्र है। मैंने 'सागर-संगीत' को जैसा समझा, उसे किंचित् कहने की चेष्टा की है। इसका आस्वादन सहृदयगण स्वयं ही करेंगे। आस्वादन किये बिना केवल बुद्धि द्वारा इसके प्रकृत आनन्द को नहीं पाया जा सकेगा।

चितरञ्जन का काव्य बंग-साहित्य में एक नूतन सुर लेकर उदित हुआ है। जिनके कानों में यह सुर बजा है, वे इससे मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। यह वीणा का निक्कण नहीं है, वंशी की ध्वनि नहीं है—इसमे शिल्प-कौशल भी कुछ नहीं है। जो भाषा की चमक, भाव का उल्लास, रचना की परिपाटी, छन्द का नृत्य, किंवा अलंकार की घटा देखने की आंकाक्षा लेकर 'सागर-संगीत' को खोलेंगे, वे निराश हो जायेंगे। यद्यपि जो चित्त को विस्मित, विह्वल करके छोड़े ऐसा इसमें कुछ भी नहीं है, तथापि इसमें जो है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। कहीं परिलक्षित नहीं होता। चितरञ्जन के काव्य का प्रधान गुण है स्वच्छता तथा आन्तरिकता। यह सरल, सुन्दर, आवेगमय आन्तरिकता ही पाठक हृदय के तलदेश में जाकर उसका स्पर्श करती है। देखते-देखते कवि तथा पाठक में एक सहृदयतापूर्ण एकात्मभाव की प्रतिष्ठा होती है तथा अपरिचेय आवरण अपसारित हो जाता है।

जब सुकण्ठ साधक एकतारा की झंकार में एकान्त मन से अपने प्राण की व्यथा प्राणेश्वर के चरणों में निवेदित करने में प्रवृत्त होते हैं, तब उस सरल हृदय के सहज सुर जिस प्रकार से चित्ताकर्षक लगते हैं, अति सूक्ष्म कौशलयुक्त तथा पाण्डित्यपूर्ण ध्रुपद आलाप से वैसा नहीं होता। सम्राट् अकबर तानसेन के लोकोत्तर संगीत-नैपुण्य से उतना मुग्ध नहीं हो सका, जितना उसके सरल हृद्योच्छ्वासपूर्ण वाक्यों को एक दिन सुनकर मुग्ध हो गया था। प्रतिदिन निर्जन यमुना तट पर नवोदित सूर्यमण्डल की ओर देखते हुए अश्रुसिक्त नयन से गद्गद कण्ठ से जो सहज-सरल प्रार्थना संगीत तानसेन गाया करते थे, मुगल सम्राट् उस मधुर स्वर-लहरी को अपनी सभा में एक दिन भी नहीं सुन पाया। भगवान् के निकट भक्त का आत्मनिवेदन वास्तव में उतना ही मधुर है।

मैं और विशेष आलोचना नहीं करूँगा। साधक-कवि चितरञ्जन आज तपस्या के प्रभाव से निर्धूतकल्मष हैं। आज वे और भी बड़े साधक और कवि हैं। तभी मेरी आकांक्षा है कि नवबल से बलीयान होकर वे उत्तरोत्तर 'सागर' की महिमा गाते रहें। वे चिरजीवी हों, उनका कण्ठ भी चिरजीवी हो जाये। उनके निकट भाग्यहत बंगभूमि की अनेक अपेक्षाएँ हैं और दीन बंगवाणी की क्या नहीं है ? आशा करता हूँ कि बंग-साहित्य उनके कृपाकटाक्ष से वंचित नहीं होगा।



बायरन

'And poor proud Byron ! Sad as grave,
And salt as life; for lonely brave,
And quivering with the dart he drave,

E.B. Browning

एक शताब्दी से कुछ ही कम समय बीत चला है, बायरन की ज्वालामयी प्रतिभा चिरकाल के लिये निर्वापित हो गयी है। किन्तु प्रतिभा निर्वापित होने पर भी तत्प्रसूत फलराजि आज भी विद्यमान रहकर मानव-मण्डली के सुख-दु:ख का विधान कर रही है। स्वाधीन चिन्ता की विजय-पताका का उड्डीन देखकर भावुक के नेत्रों से आनन्दाश्रु उद्गत हो जाता है। आज भी स्वेच्छाचारी उत्पीड़न के विरुद्ध पददलित न्यायधर्म के प्रतिष्ठाकल्प में लोगों को उद्यतबाहु देखा जाता है, यह है बायरन का प्रभावजात अमृतमय फल। और विषफल भी है, क्योंकि अभी भी युवक समाज से स्वैराचार, उच्छृङ्खलता, असंयत आवेग-उच्छ्वास का प्रवाह पूर्णत: तिरोहित नहीं हो सका है। अभी भी युवकों के अन्त:करण में नैराश्य-प्रियता तथा मानव जाति के प्रति आन्तरिक घृणा समय-समय पर विराजित दृष्टिगोचर होती है। अत: कहा जा सकता है कि बायरन चले गये, उनके साथ ही उनकी प्रतिभा का सूर्य भी पश्चिम के दिगन्तशिखर में अस्तमित हो गया है, किन्तु दिक् चक्रवाल की निम्नभूमि से शताब्दी की निबिड़ कुहेलिका का भेद करके उस प्रतिभा की विच्छिन्न करलेखा अभी भी स्थान-स्थान में प्रभासमान हो रही है और उस आलोक से आलोकित होकर दो-एक तरुण कवि अथवा कविहृदय अथवा दो-एक तरुण युवक अपनी मनोवीणा पर समय-समय पर झंकार दे रहे हैं। बायरन ने हमे कुशिक्षा प्रदान की है अथवा सुशिक्षा, इसका विचार करने पर मतभेद अविसंवादित है। यह विवाद आज की बीसवीं शती का विवाद नहीं है। यह बहुत दिनों का विवाद है। इनकी जीवितवस्था में भी इस सम्बन्ध में पण्डितवर्ग एकमत नहीं था। कारलाईल ने उनके विरुद्ध वज्रगम्भीर कण्ठ से दण्ड घोषणा की थी, अथच कारलाईल के गुरु स्थानीय महाकवि गेटे (Gethe) ने उन्हें यथोचित सम्मान से अलंकृत किया। सादि (Southey) ने उनको दानवीय कविदल का अग्रणी (Leader of the 'Satanic School of Poetry') कहकर तिरस्कृत किया था। महामति मैटसिन ने उनको अपने महत् जीवन का एकमात्र कर्णधार कहकर भक्तिविनम्र चित्त से उनका उल्लेख किया। ऐसा एकमात्र कर्णधार स्वाभाविक है, किन्तु इस मतवैषम्य के अन्तराल में उनकी प्रतिभा का महत्त्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सका। आज मैं इस विजयिनी प्रतिभा के सम्मुखीन होने की चेष्टा करूँगा।

बायरन ने जब जन्म ग्रहण किया था, तब समग्र यूरोपीय समाज अशान्तिपूर्ण था। देश में अराजकता, साहित्यशृङ्खलाराहित्य, राजनीति में मतविपर्यय था। सर्वत्र तब

पुरातन को भंग करके उस भग्नावशेष के ऊपर नूतन की एक भित्ति प्रतिष्ठा की चेष्टा हो रही थी। फ्रांसीसी विप्लव इस चेष्टा का अन्यतम फल था। किसी के भी मन में सन्तोष नहीं था। सुख तथा शान्ति नहीं थी। सभी का हृदय पुरातन के प्रति विद्रोह-प्रवण होकर नूतन की ओर झुक रहा था। जो था, वह अब अच्छा नहीं लगता था। वह यथेष्ठ प्रतीत नहीं हो रहा था। ऐसा भाव सबके मन में उठ रहा था, तथापि हाथ बढ़ाकर ऐसा कुछ नहीं मिल रहा था, जिससे हृदय की आकांक्षा चरितार्थ हो सके। क्या साहित्य, क्या समाज, सर्वत्र ही अत्याचारी के प्रति विद्रोह, सर्वत्र ही साम्य के प्रति अनुराग, सर्वत्र ही न्याय-धर्म-स्वाधीनता के प्रति आन्तरिक आकर्षण परिलक्षित हो रहा था। किन्तु हृदय का आदर्शानुयायी समाज अथवा साहित्य उस समय नहीं था; क्योंकि जहाँ एकनिष्ठ प्रभुत्व था, वहाँ न्याय अथवा साम्य रह नहीं सकता था। अतएव तब केवल नहीं, नहीं तथा 'तोड़ो-तोड़ो, भंग कोश' कार व चतुर्दिक व्याप्त था। इसके फलस्वरूप फ्रांसीसी विप्लव का दिग्‌दाहकारी दावानल चारों और व्याप्त हो गया। जो मन्द, अपवित्र था, जो देश के लिये तथा देश में अहितकारी था, वह जलकर खाक हो गया। साथ ही जो अच्छा था, जो मनमोहन था, जो समाज तथा साहित्य के परितोषण में सहायक था, वैसा भी अनेक वस्तु समूह नष्ट हो गया। स्थूलत: यह कहना होगा कि सु ा परिचालक के अभाव में अथवा विधिनिर्बन्ध के कारण यह विप्लव आशानुरूप शुभफल प्रसव नहीं कर सका। इस विप्लव के युग में ही बायरन का जन्म हुआ। अतएव बायरन नि:संदिग्ध रूप से इस विप्लव के कवि थे।

परन्तु बायरन को केवल विप्लव का कवि कहना ही उनका परिचय नहीं है। विप्लव के कवि तो कई अन्य भी थे, जैसे शेली, कोलरिज तथा प्रथमत: वर्डस्वर्थ। ये सभी विप्लव के कवि थे, तथापि इनमें चरित्रगत, आदर्शगत तथा पद्धतिगत अनेक व्यवधान भी थे। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है। अत्याचार, प्रभुत्व एवं स्वेच्छाचार के हाथों से मानव जाति की बन्धन-शृङ्खला का उन्मोचन करने हेतु शेली तथा बायरन, इन दोनों ने लेखनी धारण की थी। दोनों ही कपट के घोर शत्रु, शान्ति के दूत, साम्य के पथप्रदर्शक थे। इतने पर भी दोनों में अनेक प्रभेद की स्थिति थी। बायरन में केवल क्रन्दन, केवल तर्जन, केवल गर्जन, केवल हा-हुताश था। उनकी कृति Childe Harold को कहें अथवा Isles of Greece को कहें, सर्वत्र ही यही एक रव है। किशोरावस्था के प्रारम्भ से विदेश में, विभूमि में देहावसानपर्यन्त इसी एक चित्तविमोहन स्वाधीनता के स्वर में उनका तमाम जीवतंत्र आबद्ध था। जब इस तार को छेड़ा जाता, तब वह उसी एक सुर में बजने लगता। किन्तु शेली की बात अलग है। वे अपने प्रिय चातक पक्षी के समान कल्पना के पंखों से उड़कर नीलाकाश में मानों विचरण करते रहते। वे इस प्रकार वहीं से चारों ओर अपनी सुधासिक्त स्वरलहरी का वर्षण करते रहते। नीचे जो सैकड़ों दु:खों से जर्जरित, सैकड़ों अत्याचारों से प्रपीड़ित लोग कष्टबहुल संसार भूमि में पड़े हैं, वह बात उन्हें स्मरण ही न रहती। वे मन ही मन स्वधीनता के लीलानिकेतन, न्याय-धर्म के आश्रय-स्थल का गठन करके आनन्द से

मतवाले हो जाते। उनकी कृति Queen Mab, Revolt of Islam तथा Prometheus Unbound का यही मूलमन्त्र है। दोनों ही विप्लव के कवि थे, अथच दोनों में कितना व्यवधान है ? इसीलिये कहा है कि केवल विप्लव का कवि कहकर ही बायरन का परिचय नहीं दिया जा सकता। तब कैसे परिचय दिया जाये ? इसका उत्तर अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह जाने बिना कि कवि क्या है, विप्लव के कवि को समझा नहीं जा सकता।

जो दिव्य आलोक कवि के नेत्रों में उद्भासित है, वह आलोक जल में नहीं है, स्थल में नहीं है, नभोमण्डल में भी नहीं है।[1] अथच उससे ही नयनों से अगम्य स्थान तथा बुद्धि से अगोचर तत्त्व मुहूर्त्त मात्र में विद्युत्विकासवत् आलोकित हो जाता है। उसी से जगत् की विचित्र रहस्य-अवनिका मुहूर्त्तमात्र के लिये अपसृत हो जाती है। उसी से मुहूर्त्त के लिये तत्त्व तथा सौन्दर्य की त्रिलोकनन्दिनी मूर्त्ति हमारे मानस चक्षु के समक्ष प्रतिभात हो उठती है। इस दिव्यालोक का नाम है कल्पना और यह आलोक जिसमें जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान है, वह उतना ही बड़ा कवि है। कवित्व का एक और उपादान भी है, वह है अनुभाव कला। जो जितने अनुभवी हैं, वे उतने ही महान् कवि हैं, जो अपने दुःख में डूबकर 'पर' के, अन्य के दुःख से दुःखी हो पाते हैं, वे ही कवि हैं। जो प्राणों को उन्मुक्त करके क्रन्दन कर पाते हैं, वे ही कवि हैं। मैं कपट हास्य अथवा बनावटी-मायावी क्रन्दन की बातें नहीं कह रहा हूँ। वह तो सांसारिक का ही प्रकार भेद मात्र है। जो वास्तविक रूप से हँसना-रोना जानते हैं, वे ही कवि हैं और इस विचित्र संसार में सुख-दुःख, हँसना-रोना किसे नहीं है ? अत: एक प्रकार से संसार में सभी कवि हैं।

अवस्था का आघात, संसार की ताड़ना, निराशा की व्याकुलता जब किसी के प्राण को आलोडित करने में निरत हो, जब किसी के नेत्रयुगल के अश्रु उद्गत होने लगे, तभी उसके अन्तर की तलवाहिनी फल्गुनदी के समान कविताधारा प्रवाहित करने लगती है। वह समझे अथवा न समझे, स्वीकार करे अथवा न करे, वह मन ही मन कवि अवश्य है। किन्तु है अव्यक्त कवि। उसके साथ हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह बात यहीं तक रहे। जो प्रकृत कवि हैं, उनकी अनुभावकता अति प्रबल है। विश्लेषण शक्ति अति तीक्ष्ण है। अपनी अन्तर्निहित भावराजि को भाषा के संयोग से प्रकाश करने की उनकी क्षमता अत्यन्त असाधारण है। वे स्वयं क्रन्दन करके अन्य को भी रुला देते हैं। स्वयं हँसकर अन्य को हँसा देते हैं। वे अपने भावों से दूसरों को भी विभोर कर सकते हैं। वे जगत् के सौन्दर्य की उपलब्धि कर चुके हैं। उनकी कविता पढ़कर हम भी जगत् को सुन्दर समझने लगते हैं। यदि वे प्रेमिक कवि हैं, तब उनकी कविता पढ़कर हमारा शुष्क हृदय भी प्रेम की वन्या से प्लावित हो जाता है। यह है कवित्व की शक्ति।

---

1. 'The light that never was on sea of land'
The Consecration and Poet's Dream by Wordsworth.

यह बात सत् तथा असत्, दोनों ही क्षेत्रों में है। उससे हम सुशिक्षा तथा कुशिक्षा दोनों को ही प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करके देखने पर बायरन को एक महान् कवि मानना ही होगा। यह मुझे स्वीकार है कि उनमें अधिक परिमाण में दूरदृष्टि नहीं थी। चित्त के अणुवीक्षण-पर्यवेक्षण में वे अपटु थे, यह भी ज्ञात है। उनमें शेक्सपीयर का चरित्रज्ञान, मिल्टन का उदात्तभाव, शेली का इन्द्रजाल, वर्डस्वर्थ की गम्भीरता, ब्राउनिंग का आश्वास, टेनिसन का पाण्डित्य कुछ भी नहीं था। यह मानता हूँ। उन्होंने आदर्श चरित्र को आँक कर जगत् को परोक्ष रूप से नीति शिक्षा देने की चेष्टा भी नहीं की, यह सत्य है। तथापि वे थे एक श्रेष्ठ कवि। यदि भावमयी वाणी (Impassioned Speech) कविता का लक्षण है, तब वे उत्कृष्ट कवि थे। इतना भाव, इतना आवेग, इतनी उत्कंठा, इतनी चंचलता, क्या कहीं और है ? जिस गुण से रूसो का New Heloisa अथवा Confessions तथा चन्द्रशेखर का 'उद्भ्रान्त प्रेम' गद्य में लिखा होकर भी काव्य की श्रेणी में परिगणित होता है, उसी गुण से बायरन को भी हम कवि कह सकते हैं। अथवा जीवन-समालोचना (Criticism of Life) ही यदि कविता का निर्दिष्ट लक्षण हो, तब बायरन भी कवि हैं। क्योंकि बायरन की कविता की पंक्ति-पंक्ति में, पद-पद में, जीवन की अभावात्मक समालोचना परिदृष्ट होती है। जीवन में सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, तृप्ति नहीं है—केवल एक अपूर्ण कामना, शून्यमय हाहाकार, एक घोर निराशा-विषाद छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ईरान के कवि उमर खय्याम के मन्तव्य को बायरन ने भी समझा था—

For in and out, above, about, below
'Its nothing but a magic-shadow-show,
Played in a box where candle is the Sun
Round which we phantom figures came and go.

उन्होंने जीवन की मदिरा-प्याला को भरकर पीया था, किन्तु इससे उनकी रसना तिक्त हो गयी। उन्होंने समझ लिया कि जीवन मदिरा में माधुर्य नहीं है। स्वकृत दोष से, आत्मसंयम के अभाव से तथा अतिरिक्त भाव-प्रवणता के कारण उनका जीवन अन्धकारपूर्ण हो गया था, तभी वे आजीवन क्रन्दन करते रहे। यही है जीवन की अभावात्मक समालोचना। साथ ही भावात्मक समालोचना भी है, जैसे ब्राउनिंग की। वे दुःख में भी सुख का बीज देख सके थे। उन्होंने अमंगल को मंगल का निदान समझ लिया था। उन्होंने संसार की समस्त अशान्ति-उपद्रव के आभ्यन्तर में आनन्दमय कल्याण-स्पर्श की उपलब्धि की थी। फलतः उनकी दृष्टि में जीवन एक सुरम्य नन्दनकानन के समान मनोहारी प्रतीत हो रहा था। अतः उनकी आश्वास वाणी तापित व्यक्ति के अश्रुजल को पोछने वाली प्रतीत होती है। उस वाणी से निराश के हृदय में भी आशा का संचार होने लगता है। जो भी हो, ब्राउनिंग ने जीवन के जिस पहलू को देखा था, बायरन ने उसे न देखकर एतद्विपरीत पहलू को ही देखा था। तथापि बायरन की समालोचना भी जीवन समालोचना के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः बायरन

को कवि स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। और इतना कहने का क्या प्रयोजन ? कवित्व का मानदण्ड है पाठक का अन्तःकरण। क्या कोई पाठक Childe Harold के तृतीय एवं चतुर्थ सर्ग को, Don Juan के अंश विशेष को, Manfred प्रकृति ग्रन्थ को सहज में भूल सकेगा ?

बायरन को विप्लव का कवि क्यों कहा, इस पर खुलकर कहता हूँ। एक प्रकार से साधारणत: कविमात्र को प्रतिपाद्य विषय तथा पद्धति के अनुसार भागद्वय में, दो स्वतन्त्र श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है। किसी-किसी का मत है कि मनुष्य समाज का जीव है। मनुष्य के कितने ही सामाजिक बन्धन हैं, कितने ही कर्त्तव्य हैं। कितने दायित्व हैं। वे ईश्वर के अभिप्रेत हैं, उनका लंघन करना पाप है। सुख हो अथवा दु:ख हो, जब जो अवस्था क्यों न हो, अनेक लोगों की सुख-शान्ति आपके ऊपर निर्भर है—यह नहीं भूलना चाहिये। इसलिये उद्यम करिये, सत्य तथा न्यायपरता की ओर दृष्टि रखकर अपनी वासना को संयत करिये, अपने सुख-विलास का, यहाँ तक कि प्रयोजन होने पर अपने जीवन तक का विसर्जन कर दीजिये। देखियेगा कि इसी में अपना सुख है तथा समाज का मंगल है। वर्डस्वर्थ इसी श्रेणी के कवि थे। और एक श्रेणी के कवि हैं—उनका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। एक का अन्य के साथ प्रकृत रूप से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। सभी पृथक् एवं आत्मसम्पूर्ण हैं। मनुष्य व्यक्तिगत आचरण तथा सुख-दु:ख से शिक्षालाभ करता है। अत: इन कवियों के मतानुसार प्रत्येक के लिये अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना उचित है। प्रेम तथा दया का बन्धन (इन कविगण की दृष्टि में) शृङ्खलामात्र हैं। इसे छिन्न करके सभी सामाजिक दायित्व से ये लोग अव्याहित प्राप्त करें। आत्मकृत अथवा अन्यकृत सभी प्रकार का बन्धन इनके लिये असह्य है। बायरन तथा शेली इसी श्रेणी के कवि हैं।

अतएव विप्लव के कवि का तात्पर्य इसी श्रेणी के कवियों से है। बायरन तथा शेली में विप्लवादित्व के सम्बन्ध में पारस्परिक प्रभेद हैं, यह पहले इस प्रबन्ध में कहा जा चुका है। यह अवश्य है कि वर्डस्वर्थ भी एक प्रकार से विप्लव के ही कवि हैं; क्योंकि उनके समान न्यायनिष्ठहृदय कवि अन्याय के प्रभुत्व तथा बन्धन के विरोध में स्वभावत: विद्रोह-प्रवण होते हैं। किन्तु उनमें तथा बायरन में पार्थक्य यह है कि वर्डस्वर्थ अन्याय-बन्धन को अस्वीकार करने पर भी किसी न किसी स्वकृत बन्धन को मानकर चलते थे, जबकि बायरन किसी भी बन्धन को स्वीकार ही नहीं करते थे। तभी जब फ्रांसीसी-विद्रोह की अग्नि प्रधूमित हो उठी, तब उस समय को लक्ष्य करके जिस वर्डस्वर्थ ने कहा था कि इस समय की जीवनधारा भी एक आनन्द का विषय है, वही वर्डस्वर्थ ही विद्रोहियों के अत्याचार तथा रक्तपातादि को देखकर सिहर उठे तथा उन्होंने पृष्ठप्रदर्शन कर दिया। किन्तु बायरन स्वाधीनता संग्राम से कभी भी विमुख नहीं थे। उनका मृत्युकालीन वाक्य 'Forwards forwards, Follow me' पाठकगण स्मरण रखेंगे।

यह तो हो गयी उनकी स्वाधीनताप्रियता की कथा। किन्तु उनके विप्लवादित्व का अन्य विषय भी परिलक्षित होता है। उनका धर्म-विश्वास इस विषय में उज्ज्वल

दृष्टान्त है। उनका प्रकृत धर्म-विश्वास क्या था, यह कह सकना कठिन है; क्योंकि उसमें कालक्रमानुसार अनेक परिवर्तन होता गया। तब भी यह निश्चित है कि वे प्रचलित ईसाई धर्म के प्रति आस्थावान् नहीं थे। उनके बाल्यबन्धु Hodglon एवं अन्यान्य लोगों ने उनके ईसाई धर्म के प्रति लुप्तप्राय अनुराग के विवर्धनार्थ चेष्टा की थी, लेकिन कोई भी सफल नहीं हो सका। उन्होंने कहा 'मैं अपनी अमरता के सम्बन्ध में कोई भी बात सुनना नहीं चाहता; क्योंकि यह सब आलोचना पूर्णत: निष्प्रयोजन है। मेरा ऐहिक जीवन ही दु:ख के भार से इतना प्रपीड़ित है कि उसके ऊपर अब दु:खबहुल अनन्त जीवन की कल्पना करना प्रीतिपद नहीं है। ईसा मानव जाति के उद्धारार्थ पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, यह स्वीकार है, किन्तु केवल ईसाई होने मात्र से परित्राण नहीं मिल जाता। जो सत्पथ का अवलम्ब लेने वाला है, वह ईसााई धर्म के प्रति अविश्वासी होकर भी स्वर्ग जायेगा और जो असत् पथावलम्बी हैं, वह ईसाई होने पर भी निरयगामी होगा।' टेनिसन कहते हैं (In Mem, 54)—

Some how good
Will be the final goal of ill.

'किसी न किसी प्रकार से अमंगल का परिणाम मंगल होगा'। वे ऐसा नहीं मानते थे, ऐसी बात नहीं है। वे कहते थे कि ईश्वर अमंगल की सहकारिता के बिना मंगलोत्पादन में समर्थ नहीं हैं। वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं। उनके Cain नामक नाटक में Lucifer तथा Cain के कथनोपकथन प्रसंग में Cain ने ऐसी ही जिज्ञासा की थी 'Why is evil, He being good?' ईसाईगण अवश्य इस अमंगल के अस्तित्व को समझाने के समय प्रतिरोधकारी शैतान नामक एक प्रतिकूल शक्ति को स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार ईश्वर की शक्तिमत्ता की हानि हो जाती है। पाप के आदि कारण का निर्णय करते समय बायरन कभी-कभी ईश्वर के ऊपर ही समस्त दोष आरोपित करते हैं। जैसे अमरनाथ कहते हैं कि 'प्रभो ! आपसे एक निवेदन है। इस देह को किसने कलंकित किया ? तुमने अथवा मैंने ? मैं तो असत् हूँ, असार हूँ, तब दोष मेरा या तुम्हारा ? मेरी इस मनिहारी की दूकान को सजाया किसने है ?' ऐसे ही बायरन भी समय-समय पर मन ही मन जिज्ञासा करते हैं 'मैंने पाप किया यह स्वीकार है, किन्तु मुझे इस पापप्रवृत्ति को किसने दिया ?' जो कर्मफल नहीं मानते, अथवा शैतान की शक्तिमत्ता के प्रति विश्वासवान् नहीं हैं, उनसे यही कहना होगा कि ईश्वर ही इसका मूल है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त जो प्रवृत्ति मानव के अन्त:करण में निहित है, उसके अलंघनीय अनुशासन में जिस पाप का अनुष्ठान होता है, उसके लिये जिम्मेदार ईश्वर है, मनुष्य नहीं है। अत: इसके लिये मनुष्य दण्डभोग क्यों करेगा ? उमरखैय्याम कहते हैं—

He binds us fast in nature's cogent chain,
And yet bids us our natures to restrain;
These counter precepts how can we obey?
Hold the jar slant, but yet the wine retain.

यह तत्त्व अनेक के मन में उदित होता है। Lord Brooke के Mustapha में है—

Oh wearisome condition of humanity!
Born under are law, to another bound,
Vanity-begot and yet farbidden vanity,
Created sick, commanded to be sound;
what meaneth nature by these diverse laws?

बायरन इसी भाव से भावुक थे, अतएव धर्म-सम्बन्ध में उनकी वैप्लविकता को कोई अंगीकार नहीं कर पाता। जो शैशव में पितृहीन तथा मातृस्नेह से वंचित थे, समाज द्वारा उत्पीड़ित थे, समालोचक मण्डली द्वारा लांछित थे, देश से बहिष्कृत थे, जो पद-पद पर समाज धर्म का लंघन करके अनुतापानल में दग्ध थे, जो अतृप्त पिपासा की शान्ति की कामना लेकर देश-देशान्तर में मारे-मारे फिर रहे थे, उनकी यह विषादप्रियता विस्मय का विषय नहीं है। जिनका धर्म विश्वास ऐसा है (जो ऊपर बताया गया), वे स्वभावत: विषादप्रिय होंगे, इसमे कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है। संसार के सुख में, विलास की चकाचौंध में, प्रकृति के सौन्दर्य में डूबकर उन्होंने प्राणों में अन्तर्निहित वेदनाराशि को भूलने की चेष्टा की—किन्तु यह थी वृथा चेष्टा ! कलनादिनी वेगवती राईन नदी के तीरशोभी अटवीराजि में, जनेवा ह्रद के शान्त शीतल मधुर वक्ष पर, तुङ्ग-शृङ्ग आल्पस पर्वत के विजन शिखा पर—कहीं भी वे स्वयं को भूल नहीं सके ![1] और जब तक कामना का विसर्जन नहीं होता, तब तक शान्ति की आशा व्यर्थ है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

1. इस विषय में रूसो की वात स्वभावत: ही मन में आ जाती है। यद्यपि रूसो तथा बायरन का चित्त देशकाल व्यवधान के रहने पर भी अनेकांश में एक ही उपादान से गठित था, तथापि इस विषय में दोनों के मध्य तीव्र पार्थक्य लक्षित होता है। आल्पस पर्वत देख कर रूसो कहते हैं—'Our meditations gain a character of sublimity and grandeur proportionate to the objects around us. It seems as if being lifted above all the haunts of men, we had left every low earthly feeling behind, and that, as we approach the eternal regions, the soul embiles something of their eternal purity. We are grave without being metancholy, tranquil without-being indolent, content merely to exist and to think, our passions lose their painful violence, and leave only a gentle emotion in our breast. In short, there is something magical in these mountainous prospects which ravish both senses and mind, one forgets everything, one fargets one's self.'

और उसी पर्वत को देखकर बायरन कहते हैं—'Neither the music of the shepherd, the crashing of the avalanche, the torrent, the glacier, the forest, nor the cloud, have for one moment lightened the weight upon my heart, nor enabled me to lose my wretched identity in the majesty and the power and the glory around above, and beneath me.'

बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ।।

सन्तोष के बिना कामना का ध्वंस नहीं होता और कामना नष्ट हुए बिना स्वप्न में भी सुख-लाभ की आशा व्यर्थ है। बायरन को भी यही हुआ था। उनके भाग्य में शान्ति-सुख नहीं लिखा था।

वे कहते थे—'At tiber I long far Rome, at Rome I long far tiber' यह मानसिक चंचलता, जो उनकी अशान्ति का कारण थी, उनकी वर्णना में भी लक्षित होती है। 'बायरन के वर्णन में शान्ति नहीं है, केवल परिवर्तन हो रहा है। असंख्य परिवर्तन ! यह छोड़कर वह, वह छोड़कर यह। मानों तृप्ति नहीं हो रही है। मानो छिटके-छिटके भाव का उदय हो रहा है—मानों जिसके अन्वेषण में स्वभाव की शोभा देखते आ रहा हूँ, वह सुख नहीं पा रहा है। केवल कौतूहल तृष्णा से कातर होकर जो कुछ सुन्दर देखते हो, देखता हूँ कि उससे तृप्ति हो रही है, किन्तु वह तृप्ति अधिक समय नहीं रह पाती।[1] उनका प्रेम इस नैसर्गिक चञ्चलता से मुक्त नहीं था। जब नवमवर्ष वयस में Mary duff के प्रति उनके प्रथम प्रेम का संचार हुआ था, उसी दिन से प्रारम्भ करके La Goiccioli के प्रति उनके अन्तिम प्रणयोदय पर्यन्त वे बीच में कितनी रमणियों के प्रेम में आबद्ध हुए थे, उसकी गिनती नहीं की जा सकती। प्लेटो ने प्रेम का जो अत्युज्ज्वल रमणीय आदर्श अंकित किया था, भवभूति ने जिस प्रेम का महनीय गुण कीर्त्तन करके अमरत्व प्राप्त किया, वह 'अद्वैतं सुखदु:खयो:' सर्वावस्था में अविचल, गम्भीर, अतलस्पर्श प्रेम बायरन में कदापि नहीं था। कुमारी टियाट्रिस के प्रति दान्ते का प्रेम, कुमारी क्लाटिल्डेर के प्रति कामटे (Camte) का प्रेम, अथवा सोफिया किंवा जूलिया के प्रति Novalis का प्रेम बायरन में नहीं था। प्रेम के भाव से अनुप्राणित होकर वैष्णव कवि वसन्तराय कहते हैं—

तुमि मोर त्रिजगत्, विभव, विहार ! पराणपुतलि मोर हिये मणिहार ।

इस प्रकार के प्रेम का अस्तित्व बायरन में नहीं था। इनका प्रेम कुछ-कुछ तारमैत्रक अथवा चक्षुराग, कुछ आसंगलिप्सा, कुछ अवसादमयी शून्य हृदय की शून्य पिपासा मात्र था, किन्तु इसमें तीव्रता थी, आवेग था, उच्छ्वास था। तभी उन्हें आजीवन निराशा का वृश्चिक दंशन भोगना पड़ा।



1. महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्रीकृत 'बंगीय युवक ओ तिन कवि'

ब्राऊनिङ्ग

उन्नीसवीं शती के मध्यभाग में इंग्लैण्ड के काव्य-गगन में टेनिसन तथा ब्राऊनिङ्ग भास्वर नक्षत्र थे। वर्तमान समय में टेनिसन का नाम सर्वजन विदित है। देश-विदेश में उनका प्रचुर सम्मान हैं, किन्तु ब्राऊनिङ्ग के पाठकों की संख्या नितान्त विरल है। इसके कारण का निर्देश करना सुकठिन नहीं है। टेनिसन की रचनावली प्रांजल है। पढ़ने मात्र से अर्थ की प्रतीति होती है, भाव की गम्भीरता के कारण भी उसमें मस्तिष्क के व्यायाम की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त उनका असाधारण पाण्डित्य, अतुलनीय शब्दग्रन्थपटुता, सुतीक्ष्ण पर्यवेक्षणशक्ति प्रभृति बहुगुण मण्डित होने से उनकी कविताएँ पाठक समाज में विशेष आदर प्राप्त कर रही हैं। किन्तु ब्राऊनिङ्ग का भाग्य ऐसा नहीं था। इनकी रचना कोमलकान्त पदावली नहीं है। इन्होंने लोकरञ्जन के स्थान पर लोकशिक्षण के उद्देश्य से लिखा है। अतएव इनके लिखे में सर्वत्र पद-विन्यास का लालित्य परिलक्षित नहीं होगा। अनेक स्थल पर इनकी कविता कर्कश और कठोर प्रतीयमान होती है। किन्तु इस कर्कशता के अन्तराल में जो अलोक सामान्य धीरशक्ति एवं अनिर्वचनीय सौन्दर्य प्रच्छन्न है, उसका सन्धान न पाकर अनेक पाठक ब्राऊनिङ्ग के प्रति वीतराग हो जाते हैं। टीकाकार मल्लिनाथ ने 'किरातार्जुनीयम्' की टीका के प्रारम्भ में लिखा है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद् विभजते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सामरस्यरसिका यथेप्सितम्॥

ब्राऊनिङ्ग की कविता भी भारवि की रचना के समान कठोर आवरण से आच्छादित नारियल के फल के साथ उपमित हो सकती है। जो असहिष्णु पाठक हैं, वे उसका रसास्वादन नहीं कर सकते। ब्राऊनिङ्ग का महत्त्व कहाँ है, उनके जीवन तथा उनकी कविता का गम्भीर उद्देश्य किस स्थान में छिपा है, वे मानव जाति के समक्ष किस महान् सत्य का प्रचार कर गये हैं, इसकी आलोचना संक्षेप में की जा रही है। इसीलिये इस प्रबन्ध की अवतारणा है।

विख्यात फ्रांसीसी समालोचक Sainte Beauve कहते हैं कि ईश्वर, प्रकृति, प्रतिभा, ललित कला, प्रेम तथा मानव जीवन—ये छः मौलिक तत्त्व प्रधानतः सर्वविध कविता के मूलभूत उपादान हैं। मैं इस समालोचना प्रसंग में इनकी स्मृति रखकर यह समझने की चेष्टा करूँगा कि इन आलोच्य कवि के काव्यों में इन तत्त्वों ने किस प्रकार से प्रकाश प्राप्त किया है ?

प्रथमतः ईश्वर तत्त्व की बात। मानव के साथ, जगत् के साथ भगवान् किस सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं तथा कविता के हृदय-फलक पर भगवान् की मूर्त्ति किस प्रकार से प्रतिफलित है, यह देखना है। जड़ विज्ञानवादी कठोर वैज्ञानिक कहते हैं कि Law

is God नियम ही ईश्वर है। क्षुद्रतम अणु-परमाणु से विशाल नक्षत्रपिण्ड पर्यन्त जगत् में कहीं भी नियम शृङ्खला का व्यवच्छेद नहीं है। जैसे बहिर्जगत् में वैसे ही अन्तर्जगत्—सर्वत्र ही नियमों का समान शासन है। नियम के प्रभाव से अव्याहति, छुटकारा पा जाये ऐसी वस्तु जगत् में नहीं है। नियम सर्वव्यापी, सर्वान्तर्वर्ती है। अत: नियम ही ईश्वर है। टेनिसन विज्ञान के भक्त-उपासक थे। फिर भी वे वैज्ञानिकों की हृदयशून्य उक्ति ग्रहण नहीं कर सके। उन्होंने कहा 'God is law, say the wise' ज्ञानी के मत से ईश्वर ही नियम स्वरूप है, परन्तु नियम ईश्वर नहीं है। नियमस्वरूप ईश्वर द्वारा सृष्ट जगत् में नियम का अधिष्ठान स्वाभाविक है। उन्होंने नियम का महत्त्व, नियम की शक्तिमत्ता भी उपलब्ध किया था। तभी उनके काव्य में सर्वत्र नियम की महिमा सुनाई पड़ती है।

उनका कथन था 'Nothing is that errs from law' वे नियम में ही भगवान् की सत्ता को प्रकाशित देखते थे। किन्तु ब्राऊनिङ्ग इससे सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका हृदय शुष्क नियमों की ओर अधिक आकृष्ट नहीं था। वे भगवान् के साथ इतने दूर-दूर के सम्बन्ध को अच्छा नहीं मानते थे। वे यह समझ ही नहीं सके थे कि नियमों की मध्यस्थता में भगवत् उपलब्धि हो सकती है। भगवान् के साथ टेनिसन का सम्पर्क अधिकत: बुद्धिजात, बुद्धि संश्लिष्ट था। ब्राऊनिङ्ग का भगवान् के साथ सम्पर्क हृदय का तथा प्राण के आकर्षण का था। मानव की अनन्त चित्तवेदना तथा उच्च आकांक्षाओं के बीच जो एक महत्त्व तथा सौन्दर्य है, उसमें से अपने जीवनोपयोगी रस का आहरण करने की कल्पना ब्राऊनिङ्ग ने की थी। इस शोभामयी प्रकृति की अनन्त सुषमा में से, मानव हृदय की चिरसंचित प्रेम साधना में से ब्राउनिङ्ग ने भगवान् के आविर्भाव का (मन में) अनुभव किया था। नव वसन्त के करस्पर्श से समग्र प्रकृति संजीवित हो जाती है, चतुर्दिक नवोन्मेषित सौन्दर्य की हिल्लोल से जगत् स्पन्दित हो जाता है, कोकिल-कूजन, कुसुम-सौरभ तथा दक्षिण पवन से चतुर्दिक एक विचित्र आनन्द का आन्दोलन उपस्थित हो जाता है, इससे ब्राऊनिङ्ग ने समझा कि भगवान् विश्वविमोहन वेश में जगत् के समक्ष उपस्थित हैं—

The Lark
Soars up and up, shivering far very joy;
A far the ocean sleeps, white fishing gulls
Flit where the strand is purple with its tribe
Of nested limpets, savage creatures seek
Their loves in wood and plain—and God renews
His ancient rapture !

सर्वव्यापी शक्ति, इच्छा एवं प्रेम के प्रकाश के बिना प्राकृतिक नियमों का मूल्य नहीं है। केवल प्राकृतिक नियम तो जड़-शक्ति की लीलामात्र है। उसके साथ मानव हृदय का सम्पर्क क्या ? भारतीय वैष्णव कवि के समान ब्राऊनिङ्ग प्राण-प्राण में,

अन्तर-अन्तर में भगवान् के मधुर रूप का ध्यान करना उचित मानते हैं। वे सोचते हैं कि मेघ से विनिर्मुक्त आकाश में दोपहर के समय सूर्य जिस उज्ज्वल भाव से प्रकाशित होता है, हमारे चित्तगगन में भगवान् का प्रकाश भी वैसा ही है। कोई बाधा नहीं है, कोई अन्तराय भी नहीं है। वहाँ वासना मेघ की छाया तक नहीं है—

He glows above
With scarce and intervention, presses close
And palpitatingly, His soul over ours.

टेनिसन के समान ही ब्राऊनिङ्ग मंगलवादी थे। टेनिसन कहते हैं 'Every winter change to spring' ! ब्राऊनिङ्ग ने प्रकारान्तर से ऐसा ही कहा है, तथापि दोनों में प्रभेद है। टेनिसन मानव-जाति की अनन्त उन्नति के प्रति विश्वासवान् थे, ब्राऊनिङ्ग की कल्पना में मानव-जाति की बात ने इतना स्थान प्राप्त नहीं किया था। वे मानव के व्यक्तिगत जीवन तथा भविष्यत् की बात में ही व्यस्त थे। ब्राऊनिङ्ग का विचार था कि ज्ञान, बुद्धि तथा राजनैतिक अधिकार सीमा के विस्तार से मनुष्य की कभी भी चिरन्तन उन्नति साधित नहीं हो सकती। प्रकृत उन्नति मनुष्य की अनुभव शक्ति, आशा-आकांक्षा, आनन्द तथा दु:ख-सहिष्णुता पर निर्भर करती है। इस संसार में मनुष्यमात्र अतृप्त है, राजेश्वर से लेकर पथ के कंगालपर्यन्त, सभी अपनी-अपनी अवस्था से असंतुष्ट हैं। इस सीमाबद्ध संसार के क्षुद्र सुख में उनकी अनन्त पिपासा तृप्त नहीं होती। उनके हृदय की अनन्त सौन्दर्य-तृष्णा पार्थिव जगत् के सभी सौन्दर्य का भोग करके भी अपूर्ण रह जाती है। इस संसार का सुख, सौन्दर्य, प्रेम उसे भोग से भोगान्तर में खींचता रहता है। परन्तु कभी भी तृप्ति नहीं मिलती। यह सब उसे तृप्तिदान नहीं कर सकते। अब धीरे-धीरे उसकी समझ में आने लगता है कि भूमा ही सुख है। अल्प में सुख नहीं है—

भूमैव सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति।

इस प्रकार संसार की अपूर्णता का भान ही उसे पूर्णस्वरूप भगवान् के नित्यानन्द, अनन्त सौन्दर्य, अतुल प्रेम के माहात्म्य का ज्ञान कराकर—इनका अधिकारी बना देता है।

यदि केवल संसार की भोग-विचित्रता उसके प्राणों को तृप्ति प्रदान कर सकती, तब उसके हृदय की अन्तराभिमुखी गति कहाँ रह जाती ? रुके हुए—आबद्ध जल के समान उसकी आत्मा भी दूषित हो जाती ! यह अतृप्ति ही मनुष्य का महत्त्व है। संसार का चरम ऐश्वर्य भी हमारी आकांक्षा की पूर्णता साधित नहीं कर पाता, यही है हमारे हृदय की विशालता।

Progress, man's distinctive mark alone,
Not God's and not the beasts God is, they are,
Man partly is, and wholly hopes to be.

अपने जीवन में हम शत-शत नैराश्य-परम्परा का भेदन करके उच्चतम आदर्श में सन्निहित होते हैं। अतएव जीवन में निराशा, अकृतकार्यता, दु:ख-कष्ट की प्रयोजनीयता है, इसे स्वीकार करना ही होगा। इस दृष्टि से देख सकने पर सुख की तुलना में दु:ख की, कृतकार्यता-सफलता की तुलना में अकृतकार्यता-असफलता की उपयोगिता अधिक है।

ब्राऊनिङ्ग की दृष्टि जैसी ईश्वर के सम्बन्ध में हैं, वैसी ही दृष्टि प्रकृति के सम्बन्ध में भी है। यह सुनील आकाश, यह श्यामला धरती उनको अत्यन्त प्रिय हैं; क्योंकि वे इसमें भगवान् की शक्ति तथा प्रेम का विकास देखते हैं। इनके अनुसार प्रकृति हमें आबद्ध नहीं करती, वह हमें भगवान् के प्रेम एवं ऐश्वर्य को अपने अंगुलि-संकेत से दिखला देती है। 'From Nature upto Nature's God'! जो हतभाग्य केवल जगत् के साथ जड़ित रहना अच्छा समझते हैं, वे प्रकृति की इस प्रेममय अन्तरात्मा को, इस सौन्दर्यपूर्ण, विस्मयकारी, आनन्दमग्न प्रकृति से प्रेम करते रहने पर भी नहीं देख पाते। ऐसे लोग अभिशप्त जीव हैं। उन पर भगवान् का अभिशाप वर्षित होता है—

Thou art shut
Out of the heaven of sprit, glut
The sense upon the world.

इसकी अपेक्षा और कटोर अभिशाप क्या हो सकता है ? क्योंकि हम इस जगत् को देखकर यदि इसके जगदीश्वर को देखने का, उन्हें पाने का प्रयत्न नहीं करते, यदि इसी असीम जगत् में ही आबद्ध रहकर इसी में हमारी इच्छाओं का पर्यवसान हो जाये, तब तो हमारा विनाश अवश्यम्भावी है।

प्रतिभा के सम्बन्ध में भी ब्राऊनिङ्ग की धारणा यह है कि प्रकृत प्रतिभा हमारी सुप्त मनोवृत्ति को जगाकर रखती है। इससे हम प्राणों में मानो एक अनिर्वचनीय अभाव का अनुभव करते हैं, किन्तु उस अभाव का मोचन अथवा उन उद्बोधित आकांक्षाओं की चरितार्थता इस संकीर्ण जीवन में घटित नहीं होती। पाठक के मन में इस उदार व्याकुलता की सृष्टि करना प्रकृत प्रतिभावान् का कर्त्तव्य है।

कलाविद्या के सम्बन्ध में ब्राऊनिङ्ग ने जिस सत्य का प्रचार किया था, उसके अन्तर्देश में हम इस महान् तत्त्व की उपलब्धि करते हैं। ललित कला का प्रकृत महत्त्व यह है कि इससे हमारे अन्त:करण में ऐसी कई आकांक्षा का तथा आशा का उद्रेक होने लगता है, जिसे इस जगत् तथा पृथ्वी पर कभी तृप्ति नहीं मिलती, वरन् इससे और भी अनेक नूतन-नूतन वासना-समूह की सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार से आकांक्षाओं पर आकांक्षाओं के उठते रहने के कारण क्रमश: हम भगवान् के सिंहासन के सान्निध्य में उपस्थित हो जाते हैं। जो भास्कर (मूर्त्तिकार) अपने द्वारा गढ़ी मूर्त्ति में, चित्रकार अपने द्वारा अङ्कित चित्र में अथवा गायक अपने गीत-संगीत में अपने इच्छित-मनोमत आदर्श को प्रतिफलित कर देते हैं, उनके शिल्पकार्य में लेशमात्र भी असम्पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं

होती। वे कलाविद्या के पूर्ण उद्देश्य के संशोधन में असमर्थ हैं। उनके हृदय में आकांक्षा का अवसान हो गया है (क्योंकि उनको अपने कृतित्व में कमी नहीं दिखती इस कारण।) यही कारण है कि उनको कलाविद्या के अनुशीलन से लाभ नहीं होता।

'Andrea Del Sarto' नामक कविता में इन्होंने इस तत्त्व का परिस्फुट रूप से प्रकाश किया। Andrea एक निर्दोष चित्रकार (Faultless Painter) थे। उनके चित्रों में एक भी रेखा व्यर्थ में विन्यस्त नहीं होती थी। उन्होंने मन में जिस सौन्दर्य के रमणीय आदर्श की कल्पना की थी, उसे उन्होंने पूर्णतः तूलिका द्वारा अंकित, परिस्फुटित कर दिया था। उनका चित्त सर्वतोभावेन उनके आदर्शानुरूप होता था। सर्वत्र ही अनिन्द्य-सुन्दर, कहीं-कहीं भी तिलमात्र का भ्रम अथवा अनुचित रंगों का विन्यास परिलक्षित नहीं होता था। यद्यपि उनके चित्र दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर देते थे, किन्तु हृदय में एक अनिर्दिष्ट की ओर की आकांक्षा का उद्रेक नहीं हो पाता था। कोई भी उनकी अपेक्षा उच्चतर एवं अधिक मनोहर सौन्दर्य की छवि को मन में स्वप्नवत् अनुभूत भी नहीं कर पाता था। उनके चित्र सर्वांगसुन्दर चरमोत्कर्ष की स्थिति वाले भले ही हों, उससे चित्र का प्रकृत उद्देश्य सफल नहीं हो रहा था—

A man's reach should exceed his grasp,
Or what is Heven for? All in silver grey,
Placid and perfect with my art-the worse.

किन्तु युवक Raphel की चित्रकला उतनी निर्दोष नहीं थी। उसमें बीच-बीच में भ्रम-प्रमाद भी यथेष्ट था, तब भी Andrea युवक Raphel को उच्चतर चित्रकार की आख्या प्रदान करते थे और यहाँ तक कि उसे चित्रगुरु कहकर उसकी भक्ति करने से भी कुंठित नहीं होते थे। उसका कारण यह था—

The true artist is ever sent through
And beyond his art unsatisfied to God,
The fount of light and beauty.[1]

Abt vogler ब्राऊनिङ्ग की एक और कविता है, जो मनोहर भी है। प्राचीन गीतिविद्या विशारद वादक अपने भग्न वाद्ययन्त्र के ऊपर जिस विलाप संगीत की रचना कर गये हैं, वह चिरकालपर्यन्त अपने प्राण में ग्रथित करने योग्य है। इसमें ब्राऊनिङ्ग के कला सम्बन्धित मतामत का व्यक्तीकरण है। Vogler एक स्वभावसिद्ध गायक थे। उनके संगीत में ऐसी मोहिनी शक्ति थी, जिसको सुनने मात्र से मानो स्वर्गराज्य का कपाट खुल गया हो! संगीत के मोहमन्त्र से आकर्षित होकर न जाने कितने देवयोनि (देवता) उनके वशीभूत हो जाते तथा उनके समक्ष नयनाभिराम अथच क्षणस्थायी प्रासाद की रचना करते। प्रासादों की भित्ति पातालपर्यन्त प्रसृत रहती, स्वच्छ प्राचीर-माला गगनस्पर्शिनी रहती। उनका शिखर ज्वलन्त उल्कापिण्ड के समान शोभायमान

1. See Dowden's 'Studies in Literature' Page 223.

था। इस मायामन्त्र गठित प्रासाद से लगता है पृथ्वी मानो स्वर्गस्पर्श की कामना से उध्वोंत्थिता है और वैसे ही मानो स्वर्ग भी पृथ्वी की आकांक्षा से अवनत है। यहाँ अतीत काल के दिवंगत महात्मागण उपस्थित होते, भविष्यत् की अजात (जिसका अभी जन्म नहीं हुआ है) प्राणी मण्डली जन्मग्रहण के पहले से ही वहाँ कल्पना बल से आविर्भूत रहती। निकट तथा दूर, सर्वत्र ही नवजीवन एवं नवीन महिमा का समावेश परिलक्षित होता। वहाँ अनादि, अतीत एवं अनन्त भविष्यत् तो वर्तमान के साथ एकत्र मिलित-सा रहता। किन्तु अब यह प्रासाद चूर्णीभूत हो गया है ! संगीतोपशम के साथ-साथ यह मायापुरी अन्तर्हित हो गयी है ! Vogler अपनें प्राणों के स्पन्दन में इसके अभाव का अनुभव कर रहा है; क्योंकि अब यह दृश्य लौटेगा नहीं !

उसके प्राणों की आकांक्षा अतृप्त रह गयी। क्षणभर के लिये उसके हृदय में विषाद तथा शून्यता की छाया परिलक्षित होने लगी। किन्तु कितने क्षण ? मुहूर्त्त मात्र में उसकी अपूर्ण आशा स्वयं को पूर्ण करने हेतु पूर्णस्वरूप भगवान् की ओर प्रधावित हो गयी। Vagler ने सान्त्वना लाभ किया। उद्यत करयुगल से उसने भगवान् के पास व्याकुल भाव से अपने हृदय की प्रार्थना का ज्ञापन किया—'हे देव ! हे अमरनाममय महापुरुष !' मैं तुम्हारे बिना अब किसका आश्रय ग्रहण करूँगा ? निर्माता भी तुम, स्रष्टा भी तुम, जो प्रासाद मानव के हाथों से निर्मित नहीं होता, उस अदृश्य प्रासाद के रचयिता भी तुम। तुम से विकार तथा परिवर्तन की आशंका नहीं है; क्योंकि तुम समभावापन्न हो। जो हृदय तुमने प्रसारित किया है, उस हृदय को तुम ही पूर्ण करोगे। जिस आकांक्षा को तुमने उद्‌बोधित किया है, उसे तुम ही सफल करोगे। मुझे इसमें सन्देह नहीं है।'

'एक भी मंगल नष्ट नहीं होगा। जो था, वह पूर्ववत् चिरकाल पर्यन्त विद्यमान रहेगा। अमंगल—वह तो शून्य पदार्थ है, मिथ्या वस्तु है। नि:शब्द अभावमात्र है। जो पूर्व में मंगल था, वह बाद में भी मंगल ही रहेगा। अमंगल के कारण, अमंगल के साथ भी—मांगल्य शक्ति का कभी ध्वंस नहीं होता। वरन् वह वृद्धिगत होता है। पृथ्वी में जो खण्डतापन्न है, क्षुद्र-क्षुद्र भागों में विभक्त है, स्वर्ग में वह अखण्ड, पूर्ण है। विद्यमान है।'

'हम चिरकाल से जो चाहते आ रहे हैं, जिसके प्रति हमारी एकान्त आशा निहित है, जो शुभ स्वप्न हमारा रात-दिन का मानस सहचर है, उसे हम अवश्य पा लेंगे। वह है तथा चिरकाल पर्यन्त रहेगा। वह छाया नहीं है, सादृश्य (नकल) नहीं है, वह है प्रकृत वस्तु। जो सौन्दर्य, मंगल अथवा शक्ति की महावाणी एक बार ध्वनित हो गयी है, कभी भी उसका विनाश नहीं होता। जब अनन्त काल में मुहूर्त्त की कल्पना समता प्राप्त करेगी, उसी महाक्षण में पुन: वह अन्तर्हित सौन्दर्य, अदृष्ट मंगल तथा सुप्त शक्ति प्रकाशमान होगी।'

'जो उच्चभाव अत्यधिक उच्चता के कारण अपूर्ण रह गया है, जो वीरत्व

कल्पना क्षुद्र संसार के साथ सामञ्जस्य रक्षा नहीं कर सकी, जो चित्तवेदना पृथ्वी के अन्त:करण से उठकर आश्रय खोजते-खोजते निरालम्ब भाव से आकाश में विलीन हो गयी—वह सभी प्रेमिक अथवा कवि के हृदय से उठी ईश्वरोद्दिष्ट संगीत लहरी ही है। यदि यह एक बार भी श्रुतिगोचर हो जाये, तो यही यथेष्ठ है। उसे शीघ्र ही हम सुन पायेंगे !'

प्रेम सम्बन्ध में ब्राऊनिङ्ग की शिक्षा कुछ स्वतन्त्र भावापन्न है। ब्राऊनिङ्ग का विश्वास था कि किसी प्रकार का गम्भीर आवेग हमारे चित्त हेतु उन्नतिकर है; क्योंकि उसमें हमारे प्राणों में अनन्ताभिमुखी अनन्त कालपर्यन्त स्थायी रहने वाली गति की सृष्टि होती है और इस गति द्वारा हम ईश्वर के सन्निहित हो पाते हैं। यहाँ टेनिसन तथा ब्राऊनिङ्ग के मध्य कुछ प्रभेद लक्षित होता है। दोनों कवि ही मानव के नाना विध प्रलोभन के विषय में वर्णन करते हैं, किन्तु दोनों में दूरवर्त्ती व्यवधान है। टेनिसन का विचार है कि कर्त्तव्य कर्म की अहवलेना करके अथवा विवेक की वाणी को अग्राह्य करके प्रेमप्रवृत्ति को चरितार्थ करना मानव का प्रधान प्रलोभन है। किन्तु ब्राऊनिङ्ग का विचार है कि सतर्क सांसारिकता—लोकापवाद का भय, गम्भीर आलस्य, हृदय की दुर्बलता के चलते जीवन में प्रकृत उन्नतिदायक तथा महिमा प्रदायक प्रेमवृत्ति की परिचालना न करना मनुष्य का अधिकतर प्रलोभन है। (अर्थात् इसी नकारात्मक स्थिति में वह रहता है)। Youth and Art नामक कविता में ब्राऊनिङ्ग दिखलाते हैं कि प्रेमाभाव में जीवन शुष्क हो जाता है। एक भास्कर बालक तथा संगीत से एक बालिका के मध्य में धीरे-धीरे प्रणय का संचार हो गया। किन्तु वह भाव अधिक काल पर्यन्त स्थायी न रह सका ! दोनों के बीच अदम्य वैषयिक स्पृहा थी। सतर्क सांसारिकता द्वारा दोनों का जीवन परिचालित होने लगा। अतएव जो स्फुलिंग इतने दिनों अन्दर ही अन्दर कुछ प्रज्वलित हुआ था, वह विषयाग्नि में एक बारगी निर्वापित हो गया ! दोनों ने संसार में प्रभूत प्रतिपत्ति तथा कृतकार्यता प्राप्त की, किन्तु अन्त में देखा कि कोई भी सुखी न हो सका—

Each life's unfulfilled, you see,
It hangs still patchy and scrappy,
We have not sighted deep, laughed free,
Starved, feasted, despaired-been happy.

'The Statue and the Bust' में भी यही प्रतिपादित हुआ है। ड्यूक तथा महिला के हृदय में एक-दूसरे के प्रति आसक्ति जन्मी। यह विवाहिता रमणी थी। उसके पति ने इस सम्बन्ध में अवगत होने पर इस महिला को घर के कमरे में बंद कर दिया। महिलो वातायन (रोशनदान) पर बैठकर अपने प्रणयी पर दृष्टिपात करने के लिये व्याकुलता से प्रतीक्षा करने लगी। ड्यूक प्रतिदिन यथा समय घोड़े पर बैठकर नीचे के मार्ग से गुजरते समय उस वातायन की ओर दृष्टि निबद्ध किये गमनागमन करते। इस प्रकार कई दिन व्यतीत हो गये। बाद में दोनों ने संकल्प किया कि एक साथ पलायन

किया जायेगा। किन्तु आगामी दिनों की प्रतीक्षा करते-करते, अपेक्षा करते-करते पलायन नहीं किया जा सका। नित्य दोनों ही आशा से हर्षित रहते कि अगले दिन पलायन किया जायेगा, किन्तु वह अगला दिन आया ही नहीं ! धीरे-धीरे उनके प्रेम की निबिड़ता शिथिल होती गयी। वे अपनी शून्यगर्भा (जिसका फलशून्य हो) आशा लेकर सन्तुष्ट से रहते। इस प्रकार से दिन के बाद दिन, महीने के बाद महीने अतिवाहित होते गये। उन्होंने उपलब्धि किया कि उनका प्रेम अलीक स्वप्नमात्र था और इस स्वप्न के मोह में उन दोनों ने अपना समस्त यौवन गवाँ दिया !

Gleem by gleem
The glory dropped for their youth and love,
And both perceived they had dreamed a dream.

जिससे यह स्वप्न भंग न हो, जिससे उनके विगलित यौवन की स्मृति अक्षुण्ण रह जाये, इस उद्देश्य से ड्यूक ने एक मूर्तिकार से अपनी पूर्णमूर्त्ति का तथा महिला के मात्र मुख मण्डल का निर्माण कराया। बीते हुये यौवन काल में जैसे ड्यूक एवं वह महिला परस्पर के प्रति आबद्धदृष्टि देखते थे, पाषाण मूर्त्ति में उसी भाव को रंजित कराया गया था।

मानव जीवन की चिन्ता में भी टेनिसन एवं ब्राऊनिङ्ग में अनेक पार्थक्य हैं। टेनिसन के मतानुसार दीर्घकालस्थायी आत्मसंयमन के द्वारा ही जीवन का नैतिक उद्देश्य निरूपित होता है। प्रवृत्ति एवं वासना के विरुद्ध विवेक का पक्ष अपनाकर हम संग्राम करते-करते जब हम जयलाभ करते हैं, तब वह हमारे जीवन का चरम मुहूर्त्त है। किन्तु ब्राऊनिङ्ग ऐसा नहीं मानते। उनका कथन है कि जब अकस्मात् प्रेम के आलोक से अनेक वत्सर के उपेक्षित भाव-समूह हमारे मन में प्रकटित होते हैं, अथवा जब हम जीवन्त आवेगजनित अन्तर्दृष्टि के ऊपर निर्भर करके जीवन की गति का परिवर्तन करने वाले किसी उदार उद्देश्य द्वारा अनुप्राणित होकर कार्य में प्रवृत्त होते हैं, तभी वह हमारे जीवन का श्रेष्ठ मुहूर्त्त है; क्योंकि समग्र जीवन के श्रेष्ठ भाव एवं महान् आदर्श उस मुहूर्त्त में सूक्ष्मरूपेण निहित रहते हैं।

बाऊनिङ्ग की प्रतिभा इतने विभिन्न भावों में विभक्त है और प्रत्येक विभाग में उन्होंने इतने अधिक परिमाण में सूक्ष्मदर्शिता तथा अभिनवत्व का प्रदर्शन किया है कि उसके लिये अनेक लोग उनको शेक्सपीयर के ठीक बाद वाला स्थान (आसन) प्रदान करते हैं। यह प्रशंसा अवश्य किसी अंश में अतिरंजित हो सकती है, किन्तु इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है कि ब्राऊनिङ्ग की नाटकीय क्षमता अंग्रेजी साहित्य में प्राय: अतुलनीय थी। उनकी वैचित्र्यपूर्ण विविध कवितावली से यही प्रमाणित होता है। ग्रन्थकार का व्यक्तित्व-विलोप, चरित्राङ्कन में निपुणता, मानव के अन्तरस्थ परस्पर विसंवादी भाव तथा स्वार्थ-समूह का घात-प्रतिघात, एक समान्य घटना की सहयोगिता से वैद्युतिक आलोक के समान समस्त हृदयकन्दर को प्रतिभासित करना—यही प्रकृत

नाटकीय प्रतिभा है। यह ब्राऊनिङ्ग में जिस परिमाण में विद्यमान थी, उतनी 19वीं शती के किसी और (विदेशी) लेखक में विद्यमान नहीं थी।

पूर्ववर्त्ती प्रबन्ध में प्रेम, ललितकला प्रभृति कई कविजनोचित विषयों में ब्राऊनिङ्ग के संस्कार तथा अभिमत को व्यक्त किया गया है। यहाँ उनकी तथा एक-दो अन्य कविता का विश्लेषण करके अन्य दो-एक विषय की आलोचना करूँगा। 'Para celsus' इनका एक प्रसिद्ध एवं सर्वजन पठित काव्य ग्रन्थ है। यह उनके तरुण वयस में रचित होने पर भी उनकी प्रतिभा के पूर्ण विकास को लक्षित कराता है। अध्यापक Hugh Walker इसे 19वीं शती के श्रेष्ठ काव्यों में से अन्यतम कहकर इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। उनकी यह प्रशंसा अनुचित प्रतीत नहीं होती। काव्य में कल्पना की विशालता, भाव की गम्भीरता एवं काव्य गाम्भीर्य तथा उच्च नैतिक उद्देश्य का लक्ष्य करके हार्न ने इनकी तुलना महाकवि गेटे के फास्टर के साथ की थी।[1] इस काव्य में जीवन की सुगति का तत्त्व-समूह किस असाधारण शक्तिमत्ता तथा शिल्प-नैपुण्य के साथ प्रकाशित हो रहा है—यह सोचकर अवाक् हो जाना पड़ता है। इसमे एक ओर तो उनकी मानव-जीवन से सम्बन्धित सूक्ष्म समालोचना की शक्ति, तो दूसरी ओर उन्नत कविजनोचित कलाकोविदत्व प्रकाशित हो रही है। इस कविता की प्रकृत शिक्षा यह है कि मानव जीवन रूप महासौध के निर्माण में शक्ति और सौन्दर्य की, ज्ञान तथा प्रेम की समान उपयोगिता है। इनमें से एक भी परिहार्य नहीं है। किसी एक का भी त्याग करने से यह महासौध विकलाङ्ग हो जायेगा।

पैरासेलसस ज्ञान-पिपासु साधक थे। वे जगत् तथा जीवन में अन्तर्निहित जटिल रहस्यनिचय का आविष्कार करने के लिये बद्धपरिकर थे। शान्ति तथा प्रेम के मोह का विसर्जन करके तत्त्वानुसन्धान में प्रवृत्त हो गये थे। रवीन्द्रनाथ के 'प्रकृति के परिशोध में' के समान एक संन्यासी की तरह भी ज्ञानार्जन की दृप्त अहमिका को अंगीभूत करके जनसाधारण के संश्रव का परित्याग कर दिया था और एकाकी निःसहाय अवस्था में मानव-मण्डली की समवेत चेष्टासाध्य महासत्ता के अनुसन्धानार्थ अग्रसर थे। वे समझ नहीं सके। फेस्टास ने उन्हें बारम्बार समझाया, वह उन्हें बोधगम्य नहीं हो सका कि जिस पुण्यमन्त्र (उद्देश्य) में दीक्षित होकर वे महाव्रत में व्रती हो गये हैं, उसके उद्यापन की व्यक्तिगत चेष्टा समुद्र में जलविन्दुवत् नगण्य एवं निष्फल है। उन्हें इस साधना (उद्देश्य) में सिद्धकाम होने के लिये युगों-युगों तक, युगान्तर पर्यन्त मानव जाति की अक्लान्त गवेषणा करना होगा! वे यह भी नहीं समझ सके कि इस महासाधना की असंहत चेष्टा से सिद्धिप्राप्ति दुर्घट है! यह निःसंदिग्ध है कि उनका उद्देश्य अत्यन्त विशाल था, किन्तु वह उतना महत् नहीं था। उन्होंने अपनी अपरिमेय ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने की इच्छा की थी, किन्तु यह नहीं जानते थे कि हृदय की पिपासा जब तक अतृप्त रहेगी, तब तक जगत् की अतुल ज्ञान-सम्पत्ति प्राप्त करके भी वे सुखी नहीं हो

1. See Harne's 'A new spirit of the Age'

सकते। ऐसा ही हुआ भी। जब प्रेमिक कवि एप्रिल के साथ कठोर वैज्ञानिक चारसेलसस का साक्षात्कार घटित हुआ, तब एप्रिल के कोमल, मनोमोहन, प्रेममय, रक्तरागरंजित जीवन पट की ओर दृष्टिपात करके उनके मोहमुग्ध नेत्रयुगलों से तन्द्रा का आवेश छूट गया। वे समझने लगे कि उनका उद्देश्य सर्वाङ्गसम्पन्न नहीं है। जिसके द्वारा मनुष्य का मनुष्यत्व प्रकट होता है—उस प्रेम, विश्वास, आशा एवं आशंका का उन्होंने विसर्जन कर दिया। उनका जीवन व्यर्थ बीता, उन्होंने इस तथ्य का अनुभव किया—

Time flees, youth fades, life is an empty dream,
This is the echo of the time.

महाकाल के इस दिगन्तनिनाद की प्रतिध्वनि ने उनके कर्णकुहर में प्रवेश किया। तभी अन्तिम मुहूर्त्त में सतृष्ण नयनों से एप्रिल की ओर देखते वे आवेगपूर्ण कंठ से कहने लगे—

Love me henceforth Aprille, while I learn
To love, and merciful God, forgive me both!
We walk at last from weary dreams, but both
Have slept in fairy land, though dark and drear
Appears the world before us, we no less
Wake with our wrists and ankles jewelled still,
I too have sought to know as thou to love—
Excluding love as thou refusedst knowledge.
Still thou hast beauty and I power. We wake;
What penance canst devise for both of us?

इस प्रकार ज्ञानी ने प्रेमिक से तथा प्रेमिक ने ज्ञानी से जीवन के महासत्य की शिक्षा ली।

ब्राऊनिङ्ग की इसके आगे की एक कविता है 'James Lie's Wife'। इस कविता को काव्य साहित्य में यथेष्ट प्रसिद्धि मिली है। डाक्टर टेडहन्टर ने लिखा है कि हृदय के विषादमय परिवर्तन-रहस्य (Mystery and Melancholy of Change) ही इस कविता की उद्दीपना हैं। यह सत्य भी है। इसमें बाह्य के घात-प्रतिघात में एक नारी-चरित्र के आभ्यन्तरीण क्रम-विकास का सुन्दर प्रदर्शन है। एक कोमल हृदया रमणी एक जेम्स ली नामक तरल प्रकृति युवक के साथ उद्वाहबन्धन में आबद्धा हो गयी। प्रथमावस्था में दोनों का प्रेम एक-दूसरे पर सन्यस्त था। किन्तु कालचक्र-आवर्त्तन में नव प्रेममय मोहमय इन्द्रजाल अपसृत हो जाने पर चपलमति युवक का हृदय क्रमशः अपनी उस पत्नी से दूरगामी होने लगा, पत्नी की एकान्तिक प्रेमविह्वलता तब उसके प्रेमतृप्त अन्तःकरण में पुनः मधुधारा का वर्षण नहीं कर सकी थी, बल्कि वह उसे विरक्तिजनक प्रतीत होने लगा। संस्कृत के एक कवि कहते हैं—

आपां हि तृप्ताय न वारिधारा
स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा। (नैषध ३/९३)

निवृत्ततृष्ण तृप्त हृदय पुरुष के निकट तुषारशीतल सुवासित वारिधारा भी उपादेय प्रतीत नहीं होती। जब तक तृष्णा है, तब तक ही माधुर्य है—तृष्णा अपगत होने पर माधुर्य भी नहीं प्रतीत होता। वास्तव में प्रकृत प्रेम के सम्बन्ध में यह बात प्रयुज्य नहीं की जा सकती। उसका आदर्श अत्यन्त उन्नत, महान् तथा विशाल रहता है। उसमें पुष्प से पुष्पान्तर में संचरणशील मधुकर की अयथा चटुलता नहीं है, उसमें बहुवेशधारी का क्षण-क्षण में नव-नव भाव में रूपान्तर नहीं है। वह है 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वावस्थासु'। वह है स्थिर गम्भीर शान्त अचञ्चल। कालरूप महासमुद्र में संक्षुब्ध वीचिमाला उसके ऊपर से प्रवाहित हो रही है, किन्तु उसे स्पर्श नहीं कर पा रही है। इसे टेनिसन कहते हैं 'Whirlwind's heart of peace' तथा रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

'जगत्घूर्णिर मांझे स्थिर स्वर्णकमले भुवनलक्ष्मी प्रेमेर वास।' यह प्रकृत भालवासा (प्रेम), सौन्दर्य अथवा प्रतिभा के समान है नित्यनवोन्मेषशालिनी। किन्तु प्रेम का यह उच्चतम आदर्श, चण्डीदास अथवा ज्ञानदास की उदात्त कल्पना—युवक के चंचल अन्तःकरण में स्थानलाभ नहीं कर सकती। जितने ही दिन बीतने लगे उतना ही उसके हृदय का उच्छ्वसित रसप्रवाह विशुद्ध होने लगा। उसके अन्तःकरण की सुधामयी प्रेम-मन्दाकिनी के उत्समुख के ही अवरुद्ध हो जाने का उपक्रम हो गया। स्फुटनोन्मुख मन्दार-कुसुम कोरकावस्था में ही विशीर्ण होने लगा।

रोहिणी के संस्पर्श में आने पर भ्रमर के प्रति निरपराधा, अनन्यनिष्ठा, बालिकारूपी भ्रमर के प्रति गोविन्दलाल के हृदय का जैसे परिवर्तन होने लगा था, वैसे ही निर्दोषा अनन्यचारिणी प्रेमाकुला पत्नी के प्रति उस युवक में भी परिवर्तन संघटित होने लगा। किन्तु रमणी भी इसे अविलम्ब समझ गयी। वातायन-सन्निधान में, अग्निकुण्ड में, द्वारदेश में, सैकतपुलिन में, गिरिशिखर पर तथा अन्यान्य स्थानों में उसका स्वामी युवक के साथ जो साक्षात्कार तथा कथनोपकथन हुआ, उससे उसके मानसिक जीवन का एक क्रम परिवर्त्तमान धारावाहिक इतिहास संगृहीत हो सकता है। जब गवाक्ष के पास उसका स्वामी युवक के साथ प्रथम संदर्शन होता है, तब उसके प्रियतम के अन्तः की तरह बाह्य जगत् में भी एक परिवर्तन होने का आभास परिस्फुट होता है। शरत्काल का प्रसन्न नीलाकाश, मधुर सूर्यालोक, विकसित शेफालिका पुञ्ज, सब आसन्न कुहेलिका राशि में म्लान तथा मन्दीभूत होने लगे। हिमानीपात से नवोद्गत कमल के समान, रविकिरण पड़ने से केतकी पुष्प के पत्रपुट के समान, उसके हृदय में निहित विश्वासकुसुम के अंकुर ही विदलित होने लगे। स्वामी उसके प्रति विगतस्नेह हैं, यह आशंका उसके मन में आ गयी।

कविता के परवर्त्ती अंश में यह आशंका क्रमशः घनीभूत हो गयी, किन्तु इस

समय भी उसका विश्वास पूर्णत: समाप्त नहीं हो सका था। प्रचण्ड शीत समागतप्राय थी, मुक्तवासा धरणी की नग्नशोभा चतुर्दिक प्रकटित थी, किन्तु उसे विचार आया कि यह सब कोई भी उसके कष्ट का कारण नहीं है। उनकी जीवन-यात्रा के उपकरण प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। अन्त: प्रेमालोक से उद्भासित थे। बाहर शीत तथा अन्धकार है, लेकिन क्या भय ? अन्तर में प्रेम का प्रदीप जो जल रहा है। अन्तर का दीप बाहर का अन्धकार दूर करेगा, अन्तर का ताप बाहर के शैत्य का निवारण करके। यही तो ईश्वर का अभिप्राय है। भय क्या ? किन्तु बोलने से क्या होगा—तब भय तो आ ही गया। जो आशंका एक बार हृदयक्षेत्र में आरूढ़ थी, वह उपेक्षा औदासीन्यरूप वारिवर्षण से सिक्त होकर क्रमशः वर्धित होने लगी। अब वह कभी विश्वास, कभी अविश्वास वाली दोलायमान चित्तवृत्ति न होकर स्थिरतर अविश्वास रूप थी। इसके पश्चात् जब हम इन दम्पत्ति को समुद्र-सैकत में विचरण करते देखते हैं, तब रमणी के जीवन का यह सन्धिमुहूर्त्त है। कार्लहिल की भाषा का अनुकरण करते हुए कहा जा सकता है कि यह Meeting-ground 'Everlasting Yea and Everlasting Nay' यह विसर्जन तथा प्रतिष्ठा का सन्धिस्थल है। यह है उन्नत तथा अवनत प्रेम का सन्धिस्थल, स्वर्ग-मर्त्य का मिलन-क्षेत्र। वह स्वामी से कहने लगी—

'यह परिवर्तन क्यों नाथ ? तुम्हारे हृदय के करुण आह्वान का मेरे हृदय ने साथ दिया था, तुमने जो चाहा था, वह मैंने दिया। इस दरिद्र भाण्डार का समस्त ऐश्वर्य भक्तिपूर्वक तुम्हारे चरणों में मैंने अर्पित कर दिया था। तुमने तो सब ग्रहण कर लिया, तब यह असन्तोष क्यों ? यह घृणा क्यों ? यह उपेक्षा क्यों ? तुम्हारी सभी असम्पूर्णता, तुम्हारे सभी दोष देखकर भी तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति शून्य नहीं है। कारण मैं जानती हूँ कि तो सत् है, जो महत् है, वह यथा समय विकसित होगा। और उसी के प्रभाव से जो असत् है, जो निम्न है, उसकी शक्ति क्षीण होगी। तुम निन्दायोग्य हो, अथवा प्रशंसायोग्य हो, यह विचार मै नहीं करती। मैं सोचती हूँ दोषगुण निर्विशेष:—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदीनयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।।

किन्तु नाथ ! तुम्हारे अन्त: में यह परिवर्तन क्यों ?

यह भाव कुछ और दूर तक अग्रसर हो गया है। इसके पश्चात् हम देखते हैं कि पर्वत के पादमूल में बैठकर रमणी एक ग्रन्थ पढ़ रही है। तब उसका मन एक बारगी परिवर्तित हो गया है। उसने जान लिया है कि निराशा तथा विकार संसार का नियम है एवं यह अध्यात्मिक उन्नति में सहायक है। जो ग्रन्थ वह पाठ कर रही है, उसमें विषादचञ्चल पवन के उद्देश्य से एक कविता लिखी थी। समीरण सन्-सन् की आवाज के साथ बहता जा रहा था। कवि ने उसकी व्याख्या की है किसी अज्ञात कारण से उपजात अन्तर्निहित दुःख की तपती श्वास ! रमणी ने इस कविता को पढ़कर सोचा कि कवि यौवनसुलभ अनभिज्ञता के कारण अभी भी दुःख की शिक्षा की दिशा को नहीं देख सके हैं। केवल

निराशा की दिशा ही उनको प्रत्यक्ष है। पवन की यह नि:श्वास ध्वनि प्रकृत रूप से दु:ख की वार्त्ता नहीं है, अपितु आशा की वाणी भी है, तथापि यह उसके मन की बात है। प्राण के मध्य उसे अभी भी उसका सन्धान नहीं मिल सका है। जगत् के इस अनन्त प्रकार के परिवर्तन-प्रवाह में उसका हृदय एक-एक बार अज्ञात वेदना से भरकर क्रन्दन करने लगा। उसके हृदय में कुछ समयपर्यन्त आशा तथा निराशा का संग्राम उपस्थित हो गया। बाद में आशा की विजय से निराशा का पराभव हो गया।

अब उसके जीवन के प्रकृत परिवर्तन का क्षण उपस्थित हो गया। इस बार एक दिन निर्मल शरदस्रोत में जब हमने उसे शैल के अन्तराल में देखा, तब उसकी अन्त:प्रकृति सम्पूर्णत: रूपान्तरित हो उठी थी। अवसाद का कोहरा कट गया था, हृदय की मलिनता स्वच्छ हो जाने से आत्मा स्मृति, उन्नत प्रेम, कर्त्तव्यपरायणता ने क्षुद्र प्रेम के स्थान पर अधिकार कर लिया था। उसकी प्रतिदान स्पृहा एक साथ विलुप्त थी। अब अन्तिम अवस्था थी आत्मविसर्जन। उसने प्रियतम की मन:संतुष्टि के निमित्त अत्यन्त कष्टपूर्वक नयनों से उद्‌गत अश्रु का संवरण करके उत्सुक नेत्रों से एक बार अन्तिम दृष्टिपात करके प्रियतम का सान्निध्य चिरकाल के लिये परित्याग कर दिया। मर्त्यलोक स्वर्गधाम में परिणत हो गया, आत्मप्रतिष्ठा विलीन हो गयी आत्मविसर्जन में। उन्नत प्रेम की विजय-पताका उड्डीन हो उठी! अब मैं उनकी कविताओं का और विश्लेषण नहीं करना चाहता। समालोचक विद्वान् डासन कहते हैं कि इंग्लैण्ड के गत शती के इतिहास में कार्लहिल तथा रस्किन के समान ब्राऊनिङ्ग एक महाशिक्षक के रूप में जगत् में अर्चना के योग्य हैं। यद्यपि रस्किन से अनेक विषय में उनका वैसादृश्य लक्षित होता है, किन्तु कार्लहिल के साथ उनका अनेक सारूप्य है। इसमें से प्रधान सादृश्य यह है कि दोनों का विचार था कि जिससे मानवात्मा का क्रम विकास प्रकाशित नहीं होता, उसका मूल्य अत्यल्प है तथा वह प्रणिधान के अयोग्य है। सांसारिक सफलता के प्रति दोनों ही में उदासीनता की स्थिति परिलक्षित होती है। कार्लहिल ने तो कभी भूलकर भी सफलता की ओर दृष्टि नि:क्षेप ही नहीं किया। ब्राऊनिङ्ग ने भी प्रकारान्तर से यही किया है। 'Heroes and Hero-worship' ग्रन्थ में कार्लहिल ने जिन दो प्रतिभायुक्त महात्माओं को विद्यावीर (Men of letters) कहकर उच्चासन पर प्रतिष्ठापित किया है तथा उनके प्रति हृदय में यत्न से संचित समुदय भक्ति-सम्भार को अर्पित किया है, उनमें से कोई भी सांसारिक कृतकार्यता प्राप्त नहीं कर सका था। वे वीरों की तरह आजीवन संग्राम रत थे। उनका संग्राम था दरिद्रता के साथ, दु:ख के साथ, हीन भाव के साथ। इन्होंने अनवरत संग्राम किया था। परन्तु उन्हें इसके बदले सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि गेटे ने संग्राम में जयलाभ तो किया, किन्तु केवल वही उनके प्रकृत वीरत्व का निदर्शन नहीं है। रणाङ्गण में पराजित हो जाने पर भी उनके वीरत्व की मात्रा न्यून न होती। ब्राऊनिङ्ग का भी यही मत था। उनकी 'Rabbi benezra' नामक कविता इसी भाव की प्रकाशक है। अनुष्ठित कर्म कभी भी मनुष्य के चरित्रगौरव अथवा निगूढ़ महत्त्व का एकमात्र अनुमापक नहीं है। वे कहते हैं—

All I could never be,
All, men ignored in me
This, I was worth to God. Whose
Wheel the pitcher shaped.

इसी भीषण जीवनसंग्राम के दिनों में जब पग-पग पर निराशा आकर आक्रमण करती है, जब सफलता दूरगामी प्रतीत होती है, जब जीवन की स्तूपीकृत विफलता हृदय को भाराक्रान्त करके जीवन को नीरस तथा उत्साहहीन कर देती है, तब व्यर्थमनोरथ साधक के लिये इसकी अपेक्षा श्रेष्ठतर आशा की वाणी, इसकी अपेक्षा मधुरतर आश्वास का वर और क्या हो सकता है ? कितने ही निरुद्यम हताश युवकों के छायापन्न हृदय में इस सान्त्वनाप्रद गम्भीर वाणी से आशा का आलोक उद्भासित होगा। कितने ही निश्चेष्ट यात्री इस मन्त्र की अनुप्रेरणा के नवबल से बलीयान होकर, नव आशा से उद्भासित हो, दुस्तर तरङ्गसंकुल संसार-परिवार से उत्तीर्ण होने का प्रयास कर सकेंगे। इस प्रकार के दुःखी तथा निराश के लिये सर्वत्र ही भावविभोर कवि के सन्तप्त नेत्रों से अविरलवाही अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। उन्होंने तथा कार्लहिल दोनों ने ही सीखा है जीवन के प्रकृत उद्देश्य के बाहर कर्त्तव्य कर्म का संशोधन तथा हृदय में उन्नत भावराशि का परिपोषण। सिद्धि अथवा सफलता का जीवनलक्ष्य होना उचित नहीं है। 'सिध्यसिध्योः समो भूत्वा'' गीता की यह महती उक्ति दोनों के द्वारा प्रवाहित सत्य का एकमात्र आदर्श है। वर्तमान अंग्रेज जाति की मानसिक पर्यालोचना के उपलक्ष्य में कार्लाइल कहते हैं—

What is it, if you pierce through his cants, his oftrepeated Hearsays, what he calls his worship and so forth, —what is it that the modern English soul does, in very truth, dread infinity, and contemplate with entire, despair? What is his hell, after all these reputable of repeated Hearsays, what is it? With hesitation, with astonishment, I pronounce it to be, the terror of not succeeding.[1]

कामना अथवा सफलता की आकांक्षा जब तक मानव के मन में प्रबल हो रही है, तब तक सुख उसके लिये सर्वतोभावेन दुरधिगम्य है; क्योंकि प्राप्ति में सुख नहीं है। सुख है चेष्टा एवं संग्राम में। भोग में सुख नहीं है। सुख है त्याग में। प्राप्ति तथा भोग में एक अवसाद ही हाथ आता है। वह कभी भी मनुष्य की काम्यवस्तु नहीं है। सुख अर्थात् मन के जिस भाव को साधारणतः सुख नाम से आख्यात किया जाता है, वह कभी मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है। विख्यात लेखक R.L. Stevenson कहते हैं—

Nor is happiness, eternal or temporal, the revard that mankind seeks. Happiness are his wayside campings; his soul is in the journey;

---

1. See, his Past and Present—Page 125

he was born for the struggle, and only tastes his life in effort and on the condition that he opposed'.[1]

कविवर रवीन्द्रनाथ प्रकारान्तरेण यही कहते हैं—

अहिफेन-जड़ सुख, के चाय इहाके ?
मानवत्व ए नय ए नय,
राहूर मतन सुख ग्रास करे राखे
मानवेर मानवहृदय ।
मानवेर बल देय सहस्त्र विपद,
प्राण देय सहस्त्र भावना,
दारिद्र्ये खूंजिया पाई मनेर सम्पद,
शोके पाई अनन्त सान्त्वना ।

ब्राऊनिङ्ग के प्रति कविता में हमारे कविवर की यह महती वाणी चारितार्थ होती है । पाप के सम्बन्ध में कार्लहिल तथा ब्राऊनिङ्ग की शिक्षा प्राय: तुल्य भावापन्न है, तथा इस विषय में दोनों ही न्यूमैन के घोरतर विरोधी हैं । न्यूमैन तो पाप के अस्तित्व तक को सहन नहीं कर पाते । उनका कथन है कि समस्त जगत् तो प्रलय प्लावन से प्लावित हो जाता है, विलुप्त हो जाता है, वह भी श्रेष्ठ । निष्कर्मा होकर बैठे रहना भी श्रेष्ठ है, वह भी स्वीकार्य है तथापि भ्रम में भी पाप को प्रश्रय नहीं देना चाहिये । उनकी दृष्टि में पाप सर्वदा एवं सर्वथा घृणित है । जो वास्तव में अशुभ है, उससे कभी भी प्रकृत शुभ की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि होती भी है, उससे अशुभ का हेयत्व तिरोहित नहीं हो जाता । न्यूमैन की यह शिक्षा टेनिसन ने अकुतोभय होकर उसका कुछ अंश ग्रहण करके उसे अपनी इन्द्रजालिक लिपिशक्ति के द्वारा जगत् के समक्ष प्रचारित किया । इस पाप के संस्पर्श के ही कारण अर्थार के वीर सम्प्रदाय का महान् उद्देश्य विफल हो गया । मानव जाति अथवा व्यक्ति विशेष की प्रकृत उन्नति पाप के द्वारा कभी भी संसाधित नहीं हो सकती । इस तत्त्व को उज्ज्वल रूप से उनकी पुस्तक 'Idylls of the King' में व्याख्यात किया गया है । न्यूमैन का यह मत उनके समसामयिक सकल सुधीवृन्द के निकट समादृत नहीं हुआ । कार्लाइल ने वज्र-गम्भीर स्वर में इसका घोरतर प्रतिवाद किया है । ब्राऊनिङ्ग तथा हैवर्ण ने इसके विरुद्धमत की मुक्तकण्ठ से घोषणा की है । कार्लाइल कहते हैं—

भूल, भ्रान्ति अथवा पाप के असद्भाव के कारण, उसके द्वारा मनुष्य के प्रकृत महत्त्व को निर्द्धारित करने का प्रयत्न नहीं होना चाहिये । इस प्रकार के क्षुद्र मानदण्ड से मनुष्यत्व का निर्णय संभव ही नहीं है । किसमें किस-किस दोष का अभाव है, इससे

2. See his letter to Edmund Gosse in 'Letters to His Family and Friends' Vol II, Pg. 314

नहीं, किसमें किस-किस गुण का समावेश है, इससे मनुष्य के आभ्यन्तरीण गुणों से हमारा परिचय होता है। उसके आभ्यन्तरीण महत्त्व के साथ हमारा परिचय होता है।

किम्बहुना, ब्राऊनिङ्ग की शिक्षा भी ऐसी ही है। उन्होंने बतलाया है कि मंगल के ही विकासार्थ अमङ्गल की उपयोगिता है। पाप ही परिणाम में पुण्य की सहायता करता है। अन्यथा मंगलमय भगवान् की विश्वरचना में अमंगल अथवा पाप का कोई अर्थ नहीं है। इसे ही उन्होंने Blessednees of Evil कहा है। उनका कथन है—

This world's no blot for us,
Nor blank; It means intensely and means good.



इनकी दार्शनिकता तथा धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की आलोचना की गयी है। 19वीं शती के मध्य में जिस धर्मान्दोलन तथा ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक समालोचना ने समग्र यूरोप खण्ड को चंचल कर दिया था, उसका प्रभाव ब्राऊनिङ्ग अतिक्रम नहीं कर सके। उनकी कविता के किसी-किसी स्थल में समसामयिक विविध आन्दोलन का स्पन्दन स्पष्टत: परिलक्षित होता है। इसमे सन्देह एवं विश्वास, ज्ञान एवं भक्ति प्रभृति अन्योन्य विरुद्ध भावसमूहों का समावेश है एवं परिणाम, प्रेम तथा विश्वास का प्राधान्य भी कीर्त्तित है। इनके द्वारा प्रचारित धर्ममत अनेक को अभिनव प्रतीत होगा। इनके सिद्धान्त वर्तमान भावुकगण समभाव से ग्राह्य न कर सकेंगे, किन्तु अनागत भविष्यद् वंशीय लोग उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा को उच्चांग की शिक्षा मानकर सम्मान देगें, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है। उनकी मानव चरित्राभिज्ञता, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, निर्भीक चिन्तनशीलता इतनी असाधारण है कि विदेश में एकमात्र हैं, तथा इस देश में एकमात्र रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त उनके समकक्ष प्रतिद्वन्द्वी उस युग में कोई है, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। जटिल मानवान्त:करण के छायालोक तथा सदसत् वृत्ति की क्रीडा इतने सुकौशल से, इतने निपुण तूलिकास्पर्श से उनके अतिरिक्त कितने लोग दिखला सके हैं ? उनकी कविता समग्र जीवन के विभिन्न अंगों के दर्शन स्वरूप है। इसमें सौन्दर्य तटिनी की विचित्र तरंगलीला भावकौमुदी के कोमल स्पर्श से किस रूप में उच्छ्वासित होकर उठ रही है, वह कवि की कल्पना तथा चित्रकार की तूलिका, दोनों के द्वारा उपभोग योग्य है। काव्यपिपासु पाठकवर्ग उसे अनुभव द्वारा ही समझ सकेंगे।



रवीन्द्रनाथ तथा बलाका

बहुत दिनों से रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने की इच्छा थी। बाल्यकाल से ही उनकी कवि प्रतिभा से मुग्ध होकर उन्हें भक्ति विनम्रहृदय से पूजा के अर्घ्य प्रदान करता रहता था। अज्ञात हृदय की यह नीरव उपासना नीरव से उत्थित होकर नीरव में ही विलीन हो गयी। आज उसी नव किशोर अवस्था की बात याद आ रही है—जब बाल्यकाल अतीत हो गया था, किन्तु यौवन का संचार नहीं हुआ था। उस स्वप्नमय आवेशमय आधे आलोक—आधे छायामय वय: सन्धिकाल में रवि-कवि के कल्पनारश्मिपात से सन्ध्यालोक में रागारुण आकाश मण्डल के समान जीवन का आदर्श विचित्र रंग में रंजित हो गया था। तब क्या देखता था, क्या समझता था, क्या सोचता था, अब उसे ठीक उसी प्रकार से अनुभव कर सकने का उपाय नहीं है। तब भी इतना तो याद है कि रवीन्द्र के काव्यमुकुर में अपनी आशा आकांक्षामयी अव्यक्त वेदना का तथा आनन्द भरे रहस्यमय जीवन का रहस्यमय प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होते देखता था। तभी प्राण में एक आकर्षण जागता, हृदय के निगूढ़ प्रदेश के किसी एक विचित्र प्रभाव से प्राणों का स्पन्दन फूट उठता। उस अनन्त भाव की क्रीड़ा देखते-देखते प्राण आत्महारा हो जाता तथा समय-समय पर जैसे महाभाव में मग्न होकर सभी भावों से अतीत परम अव्यक्त पद में स्थिति लाभ का प्रथम उन्मेष तब अनुभव करता।

जिनके कर-स्पर्श से हृदयतन्त्री इस प्रकार के भाव से बज उठती, उनके साथ अच्छी तरह से परिचित होने की इच्छा अनेक समय उठती। इच्छा होती कि कभी एक बार उस महान् शिल्पी के प्रकृत स्वरूप का निरीक्षण करूँ—जिसकी मोहन प्रतिभा हृदय में इस प्रकार के अपरूप इन्द्रजाल की अवतारणा कर रही है। जिस निगूढ़ केन्द्रस्थल से यह वैचित्र्यमयी सृष्टि की धारा स्वाभाविक उच्छ्वास से उच्छ्वसित होकर उठती है, उस केन्द्रस्थल को देखने की आकांक्षा होती। इसीलिये रवीन्द्रनाथ के भावराज्य का उत्स कहाँ है, एक-एक बार उसका अन्वेषण करके यह रहस्य उद्घाटित करने की इच्छा होती। किन्तु नाना कारणों से वह इच्छा कार्यरूप में परिणत न हो सकी। सामर्थ्य का अभाव तथा अवसर की अप्रतुलता इसमें प्रधान थी। अभी भी उसी कारण से रवीन्द्र के काव्य की समालोचना करने का गुरुतर भार मैं अपने ऊपर ग्रहण करने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ। अनेक योग्यतर व्यक्ति इस कठिन कर्त्तव्य का अंशत: सम्पादन कर रहे हैं और भविष्यत् में भी करेंगे। तभी अपने लिये इस भार को ग्रहण करने का प्रयोजन भी अनुभव नहीं कर रहा हूँ।

तब भी अपने किसी-किसी स्नेहास्पद बन्धु के सनिर्बन्ध अनुरोध से रविन्द्रनाथ की भागवत-विशिष्टता के सम्बन्ध में दो-एक बात संक्षेप में कहने के लिये प्रवृत्त हुआ

हूँ। किम्बहुना, यह काव्य की समालोचना नहीं है। रवीन्द्रनाथ की वर्तमान काव्य ग्रन्थावली में, विशेषत: 'नैवेद्य' के परवर्त्ती काव्य साहित्य में उनकी जो विशिष्ट भावमूर्त्ति आत्मप्रकाश करती है, उसकी ही किंचित् आलोचना करना मेरा उद्देश्य है। उनके 'बलाका' नामक काव्य का अवलम्बन लेकर मैं उनको समझने की चेष्टा करूँगा, किन्तु मूल वक्तव्य पदार्थ की परिपुष्टता साधनार्थ प्रयोजनानुसार अन्यान्य ग्रन्थों का भी उल्लेख रहेगा।

मनुष्य का पूर्व इतिहास क्या है ? जो आमित्व उसमें विकास प्राप्त हुआ है, अथवा विकासोन्मुख है, उसका प्रथम उन्मेष जब लक्षित नहीं हुआ था, तब वह कहाँ था ? वह कौन अवस्था है ? उसका स्वरूप क्या है ? कवि कहते हैं—वह है अव्यक्त पद। वहाँ मैं-तुम का भेद नहीं है। अभेद भी नहीं है। जहाँ आलोक नहीं है, अन्धकार नहीं है, किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है, उसका मानवीय भाषा में वर्णन नहीं हो सकता। वह है अनन्त अजन्मा। जो अपने में आप मग्न है—ज्वार-भाटा से अतीत, संकोच-प्रसार से ऊर्ध्व, शुभ-अशुभ से ऊपर, वह नित्य पूर्ण सनातन रहस्य सदैव विराजमान है। वहाँ दु:ख नहीं है, वहाँ आनन्द की क्रीड़ा भी नहीं है। वहाँ वायु नहीं बहती, काल का स्रोत वहाँ निस्तब्ध है। आधारशक्ति वहाँ विलीन है।

नाहि रात्रि दिनमान, आदि अन्त परिणाम,
से अतले गीतगान किछुनाहि बाजे ।।

उस चिर नीरव गम्भीर प्रशान्त समुद्र में किसी एक अनिर्वचनीय स्वभाव की प्रेरणा से एक दैव मुहूर्त्त में स्पन्दन उठा !

यह स्पन्दन उठा। अव्यक्त गर्भ से 'मैं' का उदय हुआ। 'मैं' उठा, 'तुम' भी उठा। अव्यक्त अनन्त सत्ता द्विधा विभक्त होकर 'मैं' 'तुम' रूप धारी हो गई। अव्यक्त रूप में भगवान् अप्रकाश हैं। आमित्व के साथ-साथ वे स्वप्रकाश हो गये। जब तक वे अपने-आप में डूबे एकाकी रहते हैं, तब तक स्वयं को भी न देखते हैं, न जानते हैं। यही है एकजातीय निद्रा। इसका भंग होना ही उनका आत्मपरिचय अथवा आत्मबोध है। अर्थात् 'अमा' की उत्पत्ति। साथ ही साथ महाशून्य में आनन्दमयी ज्योतिर्मयी सृष्टि की धारा बहने लगती हैं—

जे दिन तुमि आपनि छिले एका,
आपनाके तो हयनि तोमार देखा।
आमि एलेम भाङ्गल तोमार घूम,
शून्ये शून्ये फुटल आलोर आनन्द कुसुम।

अतएव एक प्रकार से कहा जा सकता है कि 'मैं' ही उसके स्वरूपगत नित्यानन्द के आस्वादन का साधन है। मधु में माधुर्य तो है, तथापि उसका आस्वादन, संभोग करने भी सम्भावना न हो, तब उसे मधुर कहकर विशेषित करना कैसे सम्भव होगा ?

उसे मधुर कहना निरर्थक है। उसी प्रकार अनन्त और पूर्णवस्तु तो आनन्द स्वरूप है, लेकिन जब तक उसका आस्वादन न हो जाये, उसे रसवस्तु कहकर धारण नहीं किया जा सकता। उपनिषद् कहते हैं—'स एकाकी नारमत्, तस्मात् द्वितीयमसृजत्।' इत्यादि। एक अनन्त अद्वितीय सत्ता में जब तक स्वगत (उससे) से द्वितीय वस्तु का स्फुरण नहीं होता, तब तक यह सत्ता स्वयं से ही स्वयं परिचित नहीं हो पाती। तब तक वह चैतन्य कहलाने योग्य नहीं है। आदितत्व के साथ इस नवोदित द्वितीय का जो लीला-विलास है, वही है आनन्दरूपा सृष्टिधारा का उत्स। यही है संक्षेपतः सच्चिदानन्द भाव का रहस्य। यह जो नवोद्‌गत 'द्वितीय' है, कवि की भाषा में यह है 'मैं'। यह द्वितीय प्रतीत होने पर भी अनन्त से उद्‌भूत होने के कारण उससे अभिन्न है। वह अनन्त-पूर्ण सत्ता ही 'मैं' भाव से प्रकाशमान है। 'मैं' उसी का आत्मप्रकाश है। इस अखण्ड विशुद्ध 'मैं' के निकट पूर्ण सत्ता उद्‌बद्ध होकर जिस प्रकार प्रकाशित होती है, वही है 'तुम'। अनन्त ही 'मैं' रूप से आविर्भूत होकर 'तुम' रूप से भासित स्वयं का निरीक्षण करता है। जगत् में जितने 'मैं' हैं, सभी इस विराट् 'मैं' के ही व्यष्टि रूप हैं। इसी प्रकार 'तुम' भी जगत् में एकाधिक नहीं है। सभी दृश्य तथा ज्ञेय पदार्थ के अन्तर्देश में यही एकमात्र अखण्ड 'तुम' ही विराजित है।

'मैं' जीव है। 'तुम' ईश्वर है। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। जब हैं, तब दोनों ही हैं। न रहने पर कोई ही नहीं है। एकमात्र अज्ञात रहस्य अपने आप में गोपित है।

अव्यक्तरूप महासमुद्र मथित होकर जब इस प्रकार जीव-ईश्वर-विभाग में हो जाता है, तभी सृष्टि का विकास होता है। पृथ्वी से स्वर्ग का जन्म होता है। इस शुभ मुहूर्त्त में अनन्त के गर्भ से अनन्तनिहित पूर्ण सौन्दर्य तथा पूर्ण कल्याण रूप में आत्म-प्रकाश करता है। इसमें से एक सौन्दर्य है, इसका कार्य है तपस्या भंग करना, नवजात जीव को उन्मना करना, नव वसन्त मदिरा के स्पर्श से उसके प्राण-मन का आकर्षण करके निरन्तर विक्षिप्त करना—

एकजन तपोभङ्ग करि
उच्चहास्य अग्निरसे फाल्गुनेर सुरापात्र भरि।
निये जाय प्राणमन हरि,
दूहाते छड़ाये तारे वसन्तेर पुष्पित प्रलापे,
रागरक्त किंशुके गोलापे,
निद्राहीन यौवनेर गाने।

भीतर से बाहर ढकेल कर चारों ओर भटका देना इसका कार्य है। यह सौन्दर्य स्वर्ग की अप्सरा है। यह विश्वकामना का श्रेष्ठ धन है। द्वितीय है पूर्ण कल्याण। इसका कार्य है विक्षिप्त फिर रहे प्राण-मन को समेट कर लाना। शोक-दुःख के मंगलमय स्पर्श द्वारा वासना को संयत तथा शीतल करके जीव को सफलता तथा शान्ति प्रदान करना और जगत् के साथ उसे आनन्दमय योगसूत्र में प्रतिष्ठापित करना। यह मंगलमूर्त्ति

समस्त विश्व की जननीरूपा है। स्वर्ग की अधीश्वरी है। इसी के कल्याणकारी प्रभाव से जीव जीवन-मरण के अति पवित्र सङ्गम-स्थल में अनन्त के पूजा-मन्दिर में स्थानलग्न करता है—

आर जन फिराइया आने
अश्रुर शिशिर स्नाने
स्निग्ध वासनाय;
हेमन्तेर हेमकान्त सकल शान्तिर पूर्णताय
फिराइया आने !
निखिलेर आशीर्वाद पाने।
अञ्चल लावण्येर स्मित हास्य सुधाय मधुर।

सौन्दर्य चंचल शोभामय है। कल्याण है स्थिर लावण्यमय। सौन्दर्य उग्र है। कल्याण स्निग्ध। सौन्दर्य से वासना-कामना का उद्दीपन होता है, कल्याण से उसका उपशम हो जाता है। सौन्दर्य का प्रवाह है अन्दर से बाहर की ओर। अभेद से भेद की ओर। कल्याण का प्रवाह है बाहर से अन्दर की ओर। भेद से अभेद की ओर। बहिर्मुखीन शक्ति के आकर्षण से जीव क्रमागत निष्फलता की ओर जा रहा है। अन्तर्मुखीन शक्ति उसे गोद में खींचकर प्रशान्ति तथा सिद्धि प्रदान करती है। दोनों में ही अनन्त की शक्ति है। अव्यक्तरूप योगनिद्रा भंग हो जाने पर जब स्पन्दमयी विराट् महाशक्ति का विक्षोभ तथा चलन होता है, तब 'मैं-तुम' रूप स्वप्रकाशमय लीलामय भेदाभेद भाव के प्रकाशन के साथ-साथ महाशक्ति की अन्त:गति तथा बहि:गति अभिव्यक्त होती है। तब प्रथमत: स्वभाव के नियमानुसार बहिर्गति जागती है। तदनन्तर अन्तर्गति का विकास होता है।

जीव जब जीवरूप में जाग जाता है, तभी से आरम्भ होता है भगवान् से उसका विच्छेद। यही विच्छेद है सृष्टि का अन्तिम रूप। प्रकारान्तर से कह सकते हैं कि अनन्त की विच्छेद शक्ति से ही 'मैं' भाव का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिये जब काल-स्रोत में सर्वप्रथम 'मैं' को अस्फुट आलोक में भासित होते देखा गया, तभी से वह असहाय एवं विरही है। तथापि वह उस समय अपनी असहायता तथा विच्छेद के बारे में सजग नहीं रहता। जीव का यह विच्छेद अत्यन्त विचित्र व्यापार है। यह एकान्तिक नहीं है, क्योंकि भगवान् आत्मगोपन करके जीव के साथ सदैव विद्यमान है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनन्त की मिलन शक्ति से ही 'मैं' अथवा जीवभाव का उदय होता है। वास्तव में विरहशक्ति तथा मिलन शक्ति पृथक् नहीं है। अव्यक्तावस्था में आमित्व का (मैं का) कोई चिन्ह ही नहीं था। तभी उस समय मिलन-विरह था ही नहीं। जब वहाँ 'मैं' का उदय होता है, तब एक ऐसी अवस्था का आविर्भाव होने लगा जिसे विरह भी कह सकते हैं, मिलन भी कह सकते हैं। वास्तव में वही मिलन-विरह का बीज हैं। जीव के साथ प्रच्छन्न रूप से भगवान् रहते हैं, किन्तु उसे उनका बोध नहीं है।

इस बोध का आविर्भाव ही है जीव का क्रमविकास। जीवभाव समग्र विश्व में छिटका रहता है। रूप से रूपान्तर में, जन्म से जन्मान्तर में सभी वैचित्र्य का भेद करके जीवभाव को मनुष्यभाव पर्यन्त उठना होता है। समग्र विश्व जीव का उत्थान-सोपान है। तब भी 'मनुष्यभाव' के न आने तक 'मैं' परिस्फुट होकर व्यक्तिस्वरूप परिणाम को प्राप्त नहीं करता। व्यक्तित्व के जागरण के साथ-साथ अव्यक्त-अज्ञात स्वरूप भगवान् की स्मृति जाग जाती है। तब ज्ञात होता है कि जो उसका था, जो खो गया है, उसी के अन्वेषण में वह अनादिकाल से निरुद्देश्य यात्रा में बाहर लगा हुआ है। भटक रहा है।

इस कारण जीव का प्रथम विरह मनुष्यभाव में ही जाग्रत् होता है। पहले ही वह जागता है, ऐसा नहीं है। कितने जन्म कट गये, कितनी अवस्थाओं के अनन्तर अवस्थाएँ अतिवाहित होती गयीं—एक दिन हठात् विलास रूप में आराम की शैय्या पर ही वैराग्य की रागिनी बज उठती है। चिरपरिचित में से अपरिचित का आकर्षण प्रबल होता दिखलायी पड़ने लगता है। पूर्णतः अपरिचित में भी चिरकाल का परिचय अपना आत्मप्रकाश करता है। अतुल ऐश्वर्य के उपकरण तब बुभुक्षित मानव की क्षुधा का निवारण नहीं कर पाते। इस अनन्त सुषमापूर्ण धरणी की श्यामल शोभा, आकाश की कमनीय नीलकान्ति, ग्रह-नक्षत्रादि की उज्ज्वलता, शरत् का सूर्योदय, वसन्त की पूर्णिमा रात्रि—सभी उसके हृदय के अभाव को जगा देते हैं। ये सभी उसे याद दिलाते हैं कि उसके हृदय का अभाव क्या है। अर्थात् ये सभी उसके हृदय के अभाव का ज्ञान करा देते हैं। उसका चित्त प्रकृति का संगीत सुनते-सुनते उदास हो जाता है। इस प्रकार से उसे विच्छेदना बोध का प्रथम आविर्भाव अनुभूत होता है। किन्तु अभी वह यह नहीं समझ पाता कि यह किससे विच्छेद है ? क्रमशः यह विच्छेद वेदना गम्भीर से गम्भीरतर आकृति धारण करती है, परन्तु विच्छेद का विषय तब भी पकड़ में नहीं आता। बिना पहचाना पक्षी तो अचीन्हा ही रह जाता है। सहस्र परिचयों में से उस अपरिचय का अवगुण्ठन एक बारगी उत्तोलित नहीं होता। कितनी ही बार, कितने ही भाव से, कितने रूपों में विद्युत् की आकस्मिक चमक के समान जीव क्षणकाल के लिये अरूप का दर्शन प्राप्त भी कर लेता है। और कहता है—

ज्योत्स्ना निशीथे, पूर्ण शशिते,
देखेछि तोमार घोमटा खसिते,
आंखिर पलके पेयेछि तोमाय लखिते।

किन्तु मुहूर्तमात्र में वह जान लेता है कि अधरा को धरा नहीं जा सका। धरने की चेष्टा वृथा है—

तबु संशय जागे, धरा तुमि दिले कि ?

वह अच्छी तरह देख नहीं पाता। सब सत्य है। वह सैकड़ों शृङ्खला में शतधा विजड़ित है। उसे भी अस्वीकार करने का उपाय नहीं है। फिर भी इस जीव को देखने की, पाने की, वक्ष से लगाकर रखने की भगवान् की जो व्याकुलता है, उसकी सीमा नहीं है।

आभार चोखे लज्जा आछे, आमार बुके भय ।
आमार मुखे घोमृटा पड़े रय ।
देखते तोमाय बोध बले पड़े चोखेर जल:
ओगो आमार प्रभु
जानि आमि तबु
आमाय देखबे वले तोमार असीम कौतूहल;
नईले तो एई सूर्य तारा सकलि निष्फल ।

जिस दिन से अव्यक्त गर्भ से इस आमित्व रूप जीवभाव ने जन्म ग्रहण किया है, उसी दिन से निस्पन्द वक्ष में कम्पन उठ रहा है। द्वन्द्वातीत महाशान्ति के ऊपर आनन्द तथा वेदना की लहर चल रही है, वसन्त के संचार से प्राण की उत्कण्ठा सजीव हो उठी है, संक्षेपत: अनन्त अरूप 'मैं' रूप से सुख-दु:ख में से अपना परिचय मिल रहा है।

आमि एलेम, कापल तोमार बुक,
आमि एलेम, एल तोमार दु:ख,
आमि एलेम एल तोमार आगुनभरा आनन्द,
जीवनमरण तूफान-तोल । व्याकुल वसन्त ।
आमि एलेम, ताइत तुमि एल,
आमार मुखे चेये
आमार परश पेये
आपन परश पेले ।

मनुष्य की क्या ऐसी विशिष्टता है कि जिसके कारण अनन्त ऐश्वर्य के अधीश्वर को भी उसके निकट भिखारी बनकर हाथ फैलाना पड़ता है ? मनुष्य का प्रकृत गौरव कहाँ है ? दीन-हीन अकिञ्चन के पास ऐसा क्या गुप्त धन है कि जिसका सन्धान पाकर सम्राट् भी उसे पाने के लिये व्याकुल हो जाते हैं ? क्या अन्य जीव के पास वह नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि—जगत् के सभी जीवों में यद्यपि आमित्व न्यूनाधिक परिमाण में वर्तमान है, तथापि वह विश्वप्रवाह के वेग का अतिक्रम करके परिस्फुटता का अवलम्बन करते हुए व्यक्तित्वरूप परिणाम को प्राप्त नहीं होता। जिस दिन मनुष्य की यही स्वरूपयोग्यता वास्तव में विकास प्राप्त होती है, वही दिन मनुष्य के लिये अति शुभ दिन है। उसी दिन से उसके नव-जीवन का सूत्रपात होता है।

यह व्यक्तित्व भी भगवान् का दान है। वे अन्य जीव को व्यक्तित्व नहीं देते। उन्होंने अन्य जीवों को भी कुछ न कुछ दिया है। एक को जो दिया है, वह दूसरे जीव को नहीं दिया है। जिसे जो दिया है, वह उसे ही लेकर उनकी सेवा कर रहा है। अन्यथा नहीं करता, कर भी नहीं सकता। तथापि इस सेवा से भगवान् की संतुष्टि नहीं होती।

क्योंकि इसमें स्वातंत्र्य नहीं है। केवल अन्ध नियमों की अनुवर्त्तिता मात्र है। एकमात्र मनुष्य ही भगवद्दत्त व्यक्तित्व की महिमा से इस नियम की शृंङ्खला काट सकता है। उसका यही गौरव है कि वह सत्य-सत्य ही उन भगवान् को ऐसा कुछ दान कर पाता है, जो उसका ही नितान्त निजस्व है। जो उसके प्राप्त धन की अपेक्षा अधिक है। जिसे पाया गया है, उसे अपना बनाकर पुन: उसका समर्पण करना—यही है प्राप्त करने की सार्थकता। अन्य किसी भी जीव में इस प्रकार 'ममत्व' द्वारा निजस्व करने की क्षमता नहीं है। वह जो पाता है, उसे ही वापस कर देता है। उसे बढ़ाकर अथवा उसका रूपान्तर करके नहीं दे पाता।

पक्षी गाना गा रहा है, इसे वह स्वभावत: दान करता है। मनुष्य पक्षी की तरह गाना नहीं गाता, किन्तु वह स्वर को सजाकर जिस गान की रचना करता है, उसका समर्पण करता है। वायु ने स्वाधीनता पाया है, वह स्वभावत: ही भगवान् का नृत्य है। मनुष्य को उस स्वाधीनता का अर्जन करना पड़ता है। उन्होंने मनुष्य को सैकड़ों बन्धन में बद्ध किया है, किन्तु मृत्यु में वह उस बन्धन भाव को एक-एक करके त्याग कर अग्रसर होता है। क्रमश: एक दिन ऐसा आता है, जब वह बन्धनहीन रिक्तहस्त हो जाता है। मुक्त हो जाता है। तब उसे वह अधिकार मिलता है, जिससे स्वाधीन रूप में सेवा कर सके। यह स्वाधीन सेवा ही प्रेम की सेवा है। इसी में मनुष्य का गौरव है और भगवान् की तृप्ति है। पूर्णिमा हास्यमय है, सुख स्वप्नमय है। यह इनका स्वभाव है, इसीलिये ये आनन्दरस का स्वभावत: वितरण करते हैं। किन्तु उन्होंने मनुष्य को दु:ख दिया है। रोते-रोते मनुष्य उस दु:ख को आनन्द में परिणत करता है और मिलन काल में उस आनन्द को भगवान् को निवेदित करके जीवन सार्थक करता है। यह संसार स्वभावत: सुख-दु:खमय है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि इस संसार को वह भगवान् के लिये स्वर्गरूप बना दे। उसके हाथों में शून्य भले ही है, परन्तु इस शून्यता के अन्तराल में प्रच्छन्न रूप से भगवान् हँसते रहते हैं। इस शून्य हाथ से ही मनुष्य स्वर्ग रचना में समर्थ होता है।

अत्यन्त दु:ख में से भी मनुष्य का व्यक्तित्व खिल उठता है। जो जिस मूलधन को पाता है, वह उसकी भित्ति में स्वयं का विशिष्ट रूप से गठन करता है। तब वह स्वाधीन होता है और स्वाधीनता से भगवान् को भक्ति का दान करता है। यह भगवत् प्रेम अमूल्य है, यही उपहार एकमात्र मनुष्य से ही उनको मिल पाता है। इसी को पाने के लिये वे कंगाल हैं। यही है मनुष्य का गुप्तधन। वे अतुल सम्पत्ति के अधिकारी हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में जिनका अक्षुण्ण प्रताप अलंघ्य प्राकृतिक विधानरूपेण अप्रतिहत रूप से विद्यमान है, जिनके मणिमय मुकुट की एक-एक छटा से संख्यातीत चन्द्र-सूर्य का उद्भव होता रहता है, जिनके कटाक्षपात से न जाने कितने जगत् का सृष्टि संहार काल समुद्र में बुद्बुद के उत्थान-पतन के समान चल रहा है, वे भी अपने रत्न-मण्डित राज सिंहासन का परिहार करके इस मधुर रस के लोभ में मधुलुब्ध भृंग की तरह मनुष्य की जीर्ण-पर्णकुटीर में अतिथि-भिखारी के वेश में उतर आते हैं।

असीम धन त आछे तोमार
ताहे साध ना मेटे ।
निते चाओ ता आमार हाते
कणाय कणाय बेटे । (गीतिमाला)

आर सकलेरे तुमि दाओ !
शुधु मोर काछे तुमि चाओ !
आमि जाहा दिते पारि आपनार प्रेमे,
सिंहासन न हते नेमे
हासि मुखे वक्षे तूले नाउ
मोर हाते जाहा दाउ
तोमार आपन हाते तार वेशि फेरि तुमि पाओ । (बलाका)

जिस दिन मनुष्य के हृदय में भगवत्-प्रेम जन्म लेगा, उसी दिन ही भगवान् के साथ उसका 'माला बदल' (आपस में माला बदलना), होगा—मिलन होगा । इस मिलन का घटक है प्रेम । प्रेम ही जीव और भगवान् के हृदय को अच्छेद्य योगसूत्र में ँधे रखता है ।

जो अपरिचित है, क्या मनुष्य उससे प्रेम कर पायेगा ? हाँ ! 'अचीन्हा' को ही तो चाहा जा सकता है, क्योंकि उसकी सीमा नहीं देखी जा सकती । तभी उसमें प्रेमिक का हृदय स्वाधीन भाव से संचरण करने का स्थान पा जाता है । जहाँ सीमा है, वहाँ चाहत नहीं रहती । जो रहती भी है, वह है माया की शृङ्खला, इन्द्रियों की पिपासा । तब भी, जब सीमा में असीम आत्मप्रकाश करता है, तब सीमाबद्ध वस्तु भी सीमा को छोड़ देती है और प्राण का आकर्षण करती है । असीम अपरिचित हैं, भले ही जीवन के प्रत्येक मुहूर्त्त में वे परिचित होते रहते हैं, किन्तु उस परिचय का अन्त नहीं है । यह जगत् सैकड़ों परिचय के रहते भी अपरिचित ही रह जाता है । इसकी चिर नवीनता कभी भी म्लान नहीं होतीं । तब भी यह प्राण को मोहित करता है । असीम की सीमा नहीं है । सीमा में उसकी सीमा को खोजकर कैसे पाया जा सकेगा ? उन्हे पहचानना कभी भी समाप्त नहीं हो सकता । जीव नित्य नये परिचय में उनको प्राप्त करता है । अनन्त काल से यही हो रहा है !

भले ही पहचानने का अन्त नहीं है, तब भी उनको पहचान लिया जाता है । मनुष्य जो चाहता है, वह है मनुष्य के मन का 'मानुष' । उसकी साधना का धन, जीवन का आदर्श, आकांक्षित प्रेम तथा सौन्दर्य की छवि, यह सब अव्यक्त भाव से अनन्त के वक्ष में लुक्कायित हैं । युग के पश्चात् युग कट जाता है, न जाने कितने-कितने जन्म अतिवाहित हो गये, कठोर तपस्या, कितना हा-हुताश, कितना अन्वेषण करने पर भी उसे पाया नहीं जा सका । किन्तु हठात् एक दिन अतर्किक रूप से वे उसके हृदयाकाश में प्रकट हो उठे । तब वह युगव्यापी साधना तथा परिश्रम उस निमेष के दर्शन से ही

सार्थक हो गया। यह एक निमेष की हँसी है, उसकी चिर आशा की सफलता। अनचीन्हे, अनजाने को जानने के लिये है अन्य जीवन की साधना। अनजाने को पकड़ने के लिये व्याकुल ! दु:ख रूप से, मृत्युरूप से वे आते हैं। कठोरता की मूर्त्ति धारण करके वे प्रकाशित होते हैं। हृदय के द्वार रुद्ध करके, अहमिका के घनान्धकार में मनुष्य सुप्त रहता है। उस द्वार को भग्न करके निर्मम भाव से अहंकार को चूर्ण करके भगवान् की कृपा हृदय में उज्ज्वल रूप से आविर्भूत होती है। तब हृदय आलोकित होता है, बन्धन सरक जाते हैं, मलिनता तथा भय दूर हो जाता हैं, नवीन जीवन सञ्चारित होने से प्राचीन संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

दु:ख ही भगवान के आत्मप्रकाश का प्रकृत निदर्शन हैं। 'तुमि जो आछे वक्षे धरे वेदना ताहा जानाक् मोरे' दु:ख ही यह जना देता है कि भगवान् स्वयं जीव के साथ नित्य हैं। उसका आलिंगन किये बैठे हैं। दु:ख की मात्रा उनके ही आत्मप्रकाश की निबिड़ता है। जब जीव सुख में है, तब उसको अत्यन्त सन्तर्पण में रहना पड़ता है। क्योंकि स्वेच्छाचार के वशीभूत होकर चलने से उसमे विराग का जन्म होने की सम्भावना रहती है। किन्तु जब वे जीव को दु:ख में ढकेलते हैं, आघात करते हैं, तब और सावधानी का प्रयोजन नहीं रह जाता। तब बन्धन कट जाता है, स्वाधीनता उदित होती है। जो प्रबल अभिमान जीव को शत शृङ्खलों में जड़ित करके आबद्ध किये था, उसके विलुप्त होने के साथ-साथ वह मुक्त हो जाता है। तब—

देवार नेवार पथ खोलसा डाईने (दाहिने) बायें।

तब समग्र जगत् जीव को पुकारने लगता है। जीव अब अपनी स्वयं की कल्पित गति में आबद्ध नहीं रह पाता। दु:ख—दैन्य के घोर अन्धकार में, असीम अनन्त मृत्यु सागर में कूद पड़ता है। क्षुद्र प्रेम ही माया है—उसमे जीव बद्ध होकर भूल जाता है। किन्तु जब वह माया को काटकर बाहर को जाता है, तब वह लांछित, अपमानित, नि:संग है, तब और बन्धन कहाँ है ? तब वह वात्याताड़ित उद्दाम वैशाखी मेघ के समान प्रवहमान हो जाता है। अपने तेज में, एकाकी अनादर के खुले मार्ग पर चलता है। किन्तु यह अनादर ही वस्तुत: भगवान् का 'चरण धूलाय रङ्गीन समादर' ! है।

जीव तो जीवभाव में जन्म लेकर केवल अपनी गर्भधारिणी को ही तो देखता है। बाहर का विश्व उसकी निगाह में नही आता। भगवान् के विराट्रूप को वह और नहीं देख पाता। भगवान् का आदर आवरण विशेष है। (इसका-तात्पर्य है भगवान् द्वारा प्रदत्त सुख आवरण है)। इसका सम्भोग करने में प्रवृत्त होते ही जीव भगवान् को विस्मरित कर देता है। अब उसे जान नहीं पाता। दु:ख, कष्ट, आघात इस आवरण को तोड़कर जीव में चैतन्य का संचार करता है। विच्छेद बोध प्राण को सजग करता है। आघात से, ढकेल दिये जाने से दूर आने पर मोहनिद्रा स्वभाव के नियमानुसार कट जाती है। तब भगवान् की कृपा दृष्टिगोचर होती है।

अत: स्वीकार करना होगा कि दु:ख उनके अनुग्रह का निदर्शन है। यह ज्वार के

जल के समान वहाँ से स्वत: ही उच्छ्वसित हो जाता है। उसके इस सौन्दर्यमण्डित जगत् में आने से सर्वत्र उसका ही आभास दीखने लगता है। तब जल में, स्थल में, नभ में सर्वत्र उसकी पुकार सुनाई पड़ने लगती है। दक्षिण पवन, नव वसन्त की वनश्री, मेघयुक्त नीलाकाश उनकी ही पुकार है। तब जीव आकृष्ट होता है और घर से बाहर निकल आता है। मरण पथ पर, मुक्ति पथ पर, स्वयं को मिटा देने के पथ पर धावमान हो जाता है! तदनन्तर उनका साक्षात् दर्शन मिल जाने पर बन्धन का मूल कारण विनिवृत्त हो जाता है।

जीव वधु है, प्राणप्रिय भगवान् मृत्युरूप से, सर्वनाशी रूप से उसके पास वर के रूप में सज कर आते हैं। घोर विपद, आशाभंग, निष्फलता, ये सब उनके रुद्रभावेन आविर्भाव के चिह्न हैं। जीव का कर्त्तव्य है उनको पहचान कर, उनको सर्वस्व समर्पण करके वरण कर लेना। किन्तु गोपन रखने से नहीं चलेगा। तब अहंकार चूर्ण होगा, उन्नत मस्तक इस चरण में नत होगा, घर में अब सुख निद्रा का उपयोगी स्तिमित प्रदीप नहीं जलेगा। किन्तु उससे भय का कारण नहीं है। तब घर प्रबल वायु की ताड़ना से मुहुर्मुहु: कम्पायमान होगा, उसकी भी चिन्ता कहाँ? निर्भीक हृदय से, अटल विश्वास से, अदम्य धैर्य के साथ बाहर होना होगा—मुक्त पथ पर चलना होगा। गम्यस्थान का उद्देश नहीं है, तब भी चलते रहना है। अपने आराम का कुंज भग्न हो गया, यह सोचकर खिन्न नहीं होना है। यह समझ लेना है कि यह भग्न होना तो कारागार का भग्न होना है, काराभञ्जन है, फल है मुक्ति। शृङ्खला भग्न होने में दु:ख कैसा?

बाहिर पाने छोटेना, सकल दु:ख-सुखेर शेषे गो।

सत्य है देह छोड़ा, देहात्मबोध तथा अहंकार निवृत्त हो गया, सुख-दु:ख नहीं है। देह ही घर है, कारागर घर हैं, उसके साथ जो कुछ संसृष्ट है, वह भी वही है। इस सब के चले जाने से सुख भी गया, दु:ख भी गया। 'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत:'। यही मुक्ति है। बाहर छूट जाना। (जेल से बाहर)।

अतएव जीवन का आदर्श आराम अथवा शान्ति नहीं है। स्थितिशीतलता भी नहीं है। भगवान् से आराम चाहने के समान लज्जा का विषय और क्या होगा? जिस दु:ख में भी उनकी ही जय-जयकार हो, गौरव घोषित हो, अपनी पराजय हो, अहंकार चूर्ण हो, वही दु:ख ही तो प्रार्थनीय है। जीव अपने मिथ्या कर्तृत्वाभिमान में अन्धा होकर, बद्ध होकर प्रकृत कर्त्ता प्रभु को भूल गया है। घर में आराम शय्या पर गर्वसुख का अनुभव कर रहा है। जो उसका चिरकाल का साथी है, उसकी ओर उसका दृष्टि-निक्षेप नहीं है। तभी भगवान् दया करके उस पर आघात करते हैं—यह घर, यह अहंकार, भंग करने के लिये। उसे रुलाकर 'सड़क का पथिक' बनाने के लिये। दु:ख की पीड़ा से वह जितना ही क्रन्दन करता है, उतना ही भगवान् का गौरव तथा महत्त्व उसके सम्मुख प्रकाशित होने लगता है। जीव की यह क्रन्दन ध्वनि ही उसकी शंख-ध्वनि है—'जय निर्घोष' है। जब यह शंख धूलिपतित रहता है, तब गृह में मुक्त वायु

का संचार नहीं होता। वहाँ पर विमल आलोक का उच्छ्वास नहीं खेल पाता। यह है अवसाद की अवस्था। इसे त्यागकर मंगल के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा।

पूजा की आकांक्षा, शान्ति की तृष्णा, हृदयक्षत निवृत्ति की आशा, इष्ट वस्तु की अङ्कलिप्सा, इन सबका निर्ममता से त्याग करके अग्रसर होना है। नव यौवन में, नवीन उद्यम से कार्य में लगकर प्रवृत्त होकर जागते रहना होगा। प्रकृति के नियम से गम्भीर निशीथ में यह उद्‌बोधन कार्य सम्पन्न होता है। तब यह धूलिपतित शंख उत्थित होकर पुनः-पुनः ध्वनित होने लगता है। चक्षु से निद्रा का आवेश कट जाता है। वक्षःस्थल पुनः-पुनः आहत होने (फूलने-पचकने) लगता है। दीर्घश्वास बहने लगती है। यह सब इसी शंखध्वनि का बाह्य प्रकाश है। इस स्थिति में जीव को सर्वदा रणवीर वेश में अवस्थान करना पड़ता है। तीव्र आघात से भी चंचलता अथवा शैथिल्य का जन्म न हो, यह लक्ष्य रखना होगा। उनको समस्त ऐश्वर्य, समस्त शक्ति का समर्पण करके उनकी जय तथा अपनी पराजय को स्वीकार करना होगा। यही है शंख की जय ध्वनि। जब तक अहंकार पूर्णतः निरुद्ध नहीं होगा, उतने दिन यह संग्राम निवृत्त नहीं होगा। अहंकार के अवसान से संग्राम निवृत्त हो जाता है। तब जीव दीन, सर्वस्वहीन, अकिंचन, पथ का कंगाल होकर अभय पथ पर पदार्पण करता है। भगवान् का अभय शंख ग्रहण करना ही जीवन का आदर्श है (बलाका)।

तभी दुःख का प्रत्याख्यान नहीं करना है। ऐसा करने से इसका महान् आदर्श निष्फल हो जाता है। इसी दुःख के वेश में जीव को भगवान् का ही प्रकाश अनेक बार होता है, किन्तु जीव उनकी अभ्यर्थना न करके उनको बार-बार वापस कर देता है। जीवन की प्रथम उषा में उनका आविर्भाव होता है। उनके संगीत से जीव की सुखनिद्रा भग्न हो जाती है। किन्तु सुखमुग्ध जीव उसे अच्छा नहीं समझता। यौवन के संचार से जब प्राणों में प्रेमवृत्ति जग जाती है, तब वे प्रेम के भिखारी बनकर आते हैं। परन्तु जीव उन्हें कार्य का व्याघात करने वाला मान लेता है। उनका प्रत्याख्यान करता है। तब भी वे आते हैं। मृत्युदूत रूप से, अस्पष्ट दुःस्वप्न के समान मशाल जलाकर वे पुनः आते हैं। जीव सोचता है डाकू आये, शत्रु आये और हृदय के कपाट बन्द कर देता है।

ऐसे वे बार-बार आते हैं। किन्तु हृदय के कपाट बन्द देखकर वापस चले जाते हैं। यह द्वार बन्द करके जीव अन्धकार में बैठा है। क्रम से समय पास आता जा रहा है, सभी दीप बुझते जा रहे हैं। आशा भंग होती जा रही है। चारों ओर अकाल अन्धकार घिरा आ रहा है। जीव तब जीवन में अपने को अत्यन्त एकाकी मानने लगता है। प्राण में अभाव बोध होता है, उनके लिये-जिसका उसने प्रत्याख्यान किया था। जो एक दिन मोहनिद्रा से जगाने आये थे, जो एक दिन प्रेम के प्रत्याशी होकर हृदय माँगने आये थे, दुःखरूप से हृदय को आलोकित करके दर्प चूर्ण करने आये थे, अब उनके लिये ही प्राण क्रन्दन कर रहे हैं। उन्हें पुनः वापस पाने की तड़प आ रही है (बलाका)।

त्रिवेणी-सङ्गम

(1)

मैंने आलोचनार्थ जिस ग्रन्थ का नाम शीर्षक के रूप में उल्लिखित किया है, वह बंगसाहित्य-भाण्डार का एक अत्युज्ज्वल रत्न स्वरूप है। बंगभाषा आज समृद्धशालिनी तथा बहुविषय श्रीसम्पन्ना होने पर भी इस प्रकार के रत्न की उपेक्षा नहीं कर पायेगी। भाषा का लालित्य, रचना की भंगी, भावों की गम्भीरता तथा उद्देश्य के महत्त्व, सर्वतोमुख पाण्डित्य के साथ एक रूप से समवेत होकर इस अपूर्व ग्रन्थरत्न की सृष्टि कर रहे हैं। इसमें प्राच्य-प्रतीच्य एवं प्राचीन-नवीन का समन्वय करने की चेष्टा है। अतः यह सबके लिये उपभोग्य ग्रन्थ हैं। वर्तमान युगसन्धि तथा देशगत विभिन्न आदर्शों के संघर्ष-काल में इस ग्रन्थ की उपयोगिता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना ही होगा। तब भी यह देखना है कि इस समन्वय-चेष्टा ने कितनी सफलता प्राप्त की है। मैं भारतीय साधना के मानदण्ड का अवलम्बन लेकर, जहाँ तक सम्भव है अपने व्यक्तिगत संस्कारों का परिहार करके अपने ज्ञान तथा शक्ति के अनुसार इस आलोचना में प्रवृत्त हो रहा हूँ। आलोचना की दिशाएँ अनेक होती हैं। मैंने आलोचनार्थ उद्देश्य अथवा लक्ष्य की दिशा को ही प्रधानतः ग्रहण किया है। इस दृष्टिकोण से भी ग्रन्थ का स्थान अत्यन्त उचित है। रवीन्द्रनाथ ने ग्रन्थ लेखिका की प्रथम रचना 'वसन्त प्रयाण' के मुखबन्ध में जो अपना अभिमत प्रकाशित किया है 'त्रिवेणी-संगम' के सम्बन्ध में वह और भी अधिकतर प्रयोज्य है। मेरे विचार से केवल बंगला साहित्य ही नहीं, जगत् के किसी भी साहित्य में ऐसा ग्रन्थ विशेष आदर के साथ स्वीकार किया जायेगा।

बंगभाषा में कमलाकान्त ने जो सुर सर्वप्रथम सुनाया था, जिसकी प्रतिध्वनि को पकड़कर उद्भ्रान्त-प्रेमिक चन्द्रशेखर ने बंगाल के जनमानस को मतवाला करके अमरत्व प्राप्त किया था, आज (वसन्त प्रयाण तथा) त्रिवेणी-संगम में भी मानो स्थान-स्थान पर उसी पुराने सुर को बजते सुन रहा हूँ। भले ही वह उसी तरह का सुर नहीं है, तथापि वैसा ही है। पूरवी अथवा वेहाग तो समझता नहीं (ये दोनों राग हैं), मानो करुणा तथा विषाद ने एक साथ सम्मिलित होकर एक अपूर्व रागिनी को झंकृत कर दिया हो।

'त्रिवेणी-संगम' नाम सुनते ही प्राणों में एक पुण्य-स्मृति जाग जाती है। संगम मात्र ही पवित्र होते हैं। विशेषतः त्रिधारा का संगम जहाँ है, उसके समान पवित्र तीर्थ संसार में कहीं नहीं है। तभी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम क्षेत्र प्रयाग भूमि को तीर्थराज कहते हैं। तभी देह में इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना रूप प्रवाहत्रय का मिलन-स्थल अति पवित्र है। इस त्रिवेणी से युक्त हों अथवा मुक्त हों, क्षति नहीं है। अवगाहन का फल है। मैं यही विचार करके इस अभिनव त्रिवेणी के तीर्थ-सलिल में अवगाहन हेतु उतर रहा हूँ। देखना है कोई फल मिलता है, अथवा नहीं!

आलोचना में प्रथमत: एक बात को स्पष्टत: समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि यह ग्रन्थ त्रिवेणी-संगम नाम से अभिहित है, तथापि साधारणत: इस संगम शब्द से जो समझते हैं, यह वैसा संगम नहीं है। भले ही यह संगम है, किन्तु भिन्न रूप। वहाँ विभिन्न दिशाओं से समागत कई विभिन्न (स्वतंत्र) धाराएँ एकत्र मिलकर एक अभिन्न धारा में परिणत हो जाती हैं। इसी कारण उसे **संगम** कहा गया। परन्तु यहाँ संगम का तात्पर्य है विरोध का समन्वय। अभाव में जाकर भाव तथा महाभाव का समन्वय, विरह में जाकर कितने मिलन की पूर्ण मिलन में परिणति। इस प्रकार के समन्वय अथवा सामञ्जस्य का नाम हैं संगम। यह भावमय अथवा अभावमय अथवा उभयात्मक होकर भी इन सब से अतीत है।

ग्रन्थ-लेखिका सरयूबाला ने विश्वपथ की पथिक होकर यात्रा की है। उन्हें इस यात्रा से तीन अवस्था का अनुभव मिला। प्रथम है प्रस्थान (Thesis), द्वितीय है मध्यपथ (antithesis) और तृतीय है संगम (Synthesis)। रंग तथा धोया (धुला) प्रथम अवस्था के ही दो भिन्न विकास मात्र हैं। 'धोया' प्रथम अवस्था का अन्त होने पर द्वितीयावस्था का पूर्वाभास है। द्वितीय (मध्यपथ) मध्य की अवस्था है। इसके भी दो दिक् हैं। एक है अभावात्मक (Negative), दूसरा है Positive (भावात्मक)। यह जो भावात्मक है, यह वास्तव में अभाव का ही एक प्रकाश मात्र है। तभी प्रसन्नता के भीतर-भीतर भी इस अवस्था की (अभाव की) एक मर्मान्तिक वेदना रह ही जाती है। साधन जीवन में Resignation का जो स्थान है, इस तीर्थयात्रा में बीच में, मध्य में रहने का वही स्थान है। इस मध्यपथ अवस्था के द्वितीय होने पर भी, यहीं से तृतीय अवस्था का भी आभास मिलता हैं। 'सङ्गम' का पवित्र दृश्य यहीं से दृष्टिगोचर होने लगता है। तदनन्तर है 'सङ्गम' जहाँ सभी विरोध एक सामञ्जस्य को प्राप्त करता है।

प्राकृतिक जगत् में विज्ञान की भाषा में Evolution कहने से जो प्रकट होता है, उसे ही सरयूबाला ने 'यात्रा' कहा है। जहाँ पर का Evolution शेष है, उस पूर्णता (?) प्राप्ति में, इस यात्रा का अवसान भी वहीं है, उसी तीर्थ संगम में[1]। जब तक इस संगम की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक इस पथ संचार का अन्त नहीं है, विराम नहीं है। अन्दर-बाहर, स्थूलतम विराट् देह से लेकर सूक्ष्मतम परमाणुपर्यन्त सर्वत्र ही यह स्पन्दन है। यही है अशान्ति, यही है चलिष्णुता।

जगत् में सब कुछ गतिशील है। यह चक्राकार गति (Cyclic) है। तभी प्रकृति में कालचक्र की सीमा के अन्तर्गत जिस किसी पदार्थ की ओर लक्ष्य करता हूँ, वहाँ एक प्रत्यावर्त्तन का भाव दृष्टिगोचर होता है। उत्थान के अनन्तर पतन, पतन के अनन्तर पुनरुत्थान, यह स्वाभाविक है। भले ही जो आता है, वह चला जाता है, किन्तु घूम-

---

1. किन्तु सरयूबाला इसे ठीक नहीं मानती। (द्रष्टव्य—त्रिवेणीसङ्गम, पृष्ठ 39, पंक्ति 5) वे उन्नति को अनन्त मानती हैं। अतएव यह अवसान उनके मत से आपेक्षिक है; क्योंकि उसके अनन्तर पुन: नूतन गति है।

फिर कर पुन: आता है। कुछ भी सदा के लिये नहीं जाता, कुछ भी चिरकाल के लिये नहीं आता। जाने के पश्चात् आना, आने के पश्चात् जाना। यह चक्र भ्रमण अनवरत चलता रहता है। यहाँ का धर्म है गति। यह गति चक्राकार है। आवर्त्तमय है। सरल रैखिक (Rectilinear) नहीं है। यदि सरल रैखिक गति होती, तब कुछ भी वापस न आता, लौटता ही नहीं !

यह है जड़ जगत् की धारा। अनन्त आवर्त्त, अनन्त ऊर्मिमाला को वक्ष पर धारण करके कितने-कितने सृष्टि-प्रलय होते रहते हैं। आलोक-अन्धकार के मध्य से यह धारा अनादिकाल से एक अनन्त समुद्र के उद्देश्य से, तीव्र वेग से बहती जा रही है। तभी वसन्त के पश्चात् शीतान्त में पुन: वसन्त आता है। निद्रावसान के पश्चात् पुन: जागरण अनुभूत होता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, इस धारा का विच्छेद नहीं परिलक्षित होता। प्रतीत होता है कि एक असीम सूत्र में 'मणिगण के समान' (सूत्रे मणिगणा इव) इस जगत् की आवर्त्तनशील अवस्था पर्याय ग्रथित है।

इसी तरह की प्राण की धारा भी है। वह भी असीम, विश्वमय तथा सर्वव्यापक है। देश-काल, किंवा आधार भेद से उसका परिच्छेद नहीं है। व्यष्टि चैतन्य जीव इस विश्वप्राण का ही अंश मात्र है। वह है उस दावानल का एक कण स्फुलिंग ! असीम जड़ प्रकृति एवं अनन्त चिन्मयी प्रकृति एक ही आनन्दमयी महाशक्ति के विलास रूप से सर्वत्र एवं सर्वदा ओतप्रोत भाव से सर्वत्र तथा सर्वदा वर्त्तमान हैं। ऐश्वर्य एवं माधुर्य का अभाव तो कहीं भी नहीं है।

तब जीव क्रन्दन क्यों करता है ?

जीव क्रन्दन करता है, क्योंकि जीव जाग गया है। जागकर ही अपना अभाव समझ पाता है। अभावबोध प्रकट हो गया है, अथच अभाव की निवृत्ति का उपाय खोजकर नहीं पा रहा है। तभी वह रो रहा है। जिस दिन जीव ने अपने प्रियजनों के साथ बड़ी आशा से इस स्वभाव के क्रीड़ाघर में प्रवेश किया है, उस दिन से माया-मोह आवेश में, तन्द्रा की घनता में यह संसार उसे स्वप्नपट के समान अत्यन्त मधुर लग रहा है। स्वभाव की अतुलनीय शोभा ने वास्तव में उसे उस दिन से ही विमुग्ध कर दिया है।

किन्तु वह आनन्द आज कहाँ चला गया ! स्वभाव तो आज भी वैसा ही सुन्दर है। शत परिवर्तन के बाद भी जगत् अभी भी पूर्व की तरह अपार माधुरी का भण्डार स्वरूप तो है ही ! अभी भी वही वसन्त है, वैसे ही पुष्प खिल रहे हैं, वही मलय बह रही है, वे ही नक्षत्र जगमगा रहे हैं, 'चन्द्रमाशालिनी सा मधुयामिनी'। अभी भी देखा जाता है कि शैशव का हास्य, यौवन का उल्लास जगत् से विदा नहीं हुआ है। यह सब तो सुन्दर है, अतिसुन्दर है। तब क्यों आज प्राण उनमें रस नहीं पा रहा है ? हृदय का आनन्द किस कारण सूख गया ?

सूख गया, इसका कारण क्या है ? 'निशार स्वपन-सुखे सुखी जेइ, जागे से कांदिते' (स्वप्न में सुख को आनन्द जिसने ले लिया अब जागने पर वह सब गायब है। अत: जागकर वह क्रन्दन कर रहा है !) जीव जब तक उस सुख में आत्मविस्मृत होकर प्रकृति की नन्दन सुषमा का उपभोग करता रहता है, वह है अस्थायी मायिक सुख, स्वप्न की क्रीड़ा मात्र। जागरण के साथ वह पता नहीं कहाँ अदृश्य हो गया, वह क्रीड़ाघर अदृष्ट चक्र में न जाने कहाँ निष्पेषित हो गया !

मनुष्य कुशलता-चाहता है, किन्तु अच्छा रह नहीं पाता, अच्छी तरह, कुशलता से नहीं रह पाता। जानता भी नहीं। तभी उसे दु:ख के अतिरिक्त कहीं भी आनन्द नहीं मिलता। इसे मायाराज्य में रहकर जाना भी नहीं जा सकता कि यह कुशलता क्या वस्तु है ? यही प्रेम भी है। इसीलिये मायान्ध मनुष्य इसका पूर्णरूपेण दर्शन नहीं कर पाता। जिस दिन जान सकेगा, उसी दिन यह मायिक अवगुण्ठन उसके नेत्रों से हट जायेगा। वह योगमाया का आश्रय लेकर परमामृत के मधुर स्वाद का आस्वाद पा सकेगा।

यही आत्मज्ञान है। जैसे आत्मदर्पण न होने पर अपना रूप स्वयं भी नहीं देखा जा सकता, वैसे ही आधार न मिलनें पर यह प्रेम भी चरितार्थ नहीं होता। मनुष्य स्वयं को स्वयं भले ही चाहता है, किन्तु जब तक निज स्वरूप को अन्य एक मनुष्य के स्वच्छ हृदयदर्पण में प्रतिबिम्बित होता नहीं देख लेता, तब तक वह स्वयं को पहचान ही नहीं सकता। स्वयं को चाह भी नहीं सकता। तभी दर्पण चाहिये। दो न हो तब 'चाहने' की सम्भावना कहाँ ? 'पर' के बिना आत्मप्रेम निष्फल हैं।

भले ही प्रकृति भी दर्पण है, किन्तु इस दर्पण में मनुष्य स्वयं को सम्पूर्णत: देख नहीं पाता। चिन्मय न होने पर चिन्मय को धारण कौन करेगा ? तभी 'मानुषेर मन चाहे मानुषेरि मन'। मायाराज्य में घूमते-घूमते किसी को ऐसे मन का मिलन मिल जाता है, तब दोनों मन समसूत्र में होकर आत्मविस्मृत हो जाते हैं। 'प्राणमये प्राणलीन' (त्रिवेणीसङ्गम-पृष्ठ 10)। तब एक नशे में मन-प्राण विभोर हो जाते हैं। नील आकाश, श्यामल धरणी, प्रकृति की सभी वस्तु ही तब जीव के भावनेत्रों के समक्ष अनिर्वचनीय सौन्दर्य से मण्डित हो जाती है। किन्तु यह भाव दीर्घकाल पर्यन्त नहीं रहता। यह नशा भी दो दिनों में छूट जाता है। जिसका अवलम्बन लेकर इस रस का उदय होता है, जब कालेनेमि (काल) के अवश्यम्भावी आवर्त्तन में वह नयनों के अन्तराल में हो जाता है, तब हृदय नीरस तथा यन्त्रणा से प्रपीड़ित हो जाता है। जीव की सजायी वाटिका इसी प्रकार सूख जाती है। अतीत की वेदनामयी स्मृति का वक्ष में पोषण करके जीव निराशा के अतल समुद्र में डूब जाना चाहता है।

तब बाह्य प्रकृति का व्यङ्ग (टेढ़ापन) उसके हृदय को चोट पहुँचाता है। बाहर वसन्त आ रहा है और जा रहा है, फूल झर रहे हैं—पुन: खिल रहे हैं, अन्धकार के अनन्तर पुन: आलोक आ रहा है, किन्तु अन्तर का धन एक बार जो चला गया, उसे फिर से नहीं पाया जा सकता। जीव देखता है कि अन्दर-बाहर में यह वैषम्य है, अतीत

और वर्तमान में यह सामञ्जस्य है—किन्तु यह समझ नहीं पाता कि कैसे दोनों स्थितियों के बीच सामञ्जस्य की प्रतिष्ठा हो ? प्रियजन नहीं है, तब जगत् का सौन्दर्य निष्फल है। जिनके सान्निध्य तथा अङ्गकान्ति से यह सौन्दर्य शतगुण वर्धित होकर नयनों की तृप्ति का साधन होता, वह केवल निष्फल ही नहीं, यह तो दारुण यन्त्रणा का कारण हो गया। प्रकृति आज भी उतनी ही सुन्दर है, हृदय का सौन्दर्यानुराग आज भी उतना ही प्रबल है, अथच उस सौन्दर्य का उपभोग करने वाले वे सहचर नहीं हैं !

सामने है अनन्त जीवन, अनन्त आकांक्षा। जीव है नित्य भोक्ता, किन्तु भोग्य पदार्थ तो अनन्त नही है। कण्ठ की पिपासा कण्ठ में ही रह जाती है। क्या एक बिन्दु जल पी लेने से अनन्त पिपासा का उपशम सम्भव है ? तभी जीव क्रन्दन करता है। उस अजानी अनन्त वारिराशि की ओर लक्ष्य करके जीव रुदन करता है। अपने स्थायी प्रतिरूप का दर्शन पाने के लिये जीव क्रन्दन करता है। किन्तु वह दर्पण में नहीं मिलता। जगत् में सब ही है, किन्तु प्राणों का नित्यदर्पण कहाँ है ? स्वरूपदर्शन किस उपाय से घटित होगा ? अन्दर-बाहर नवीनता भरा। इस नवीनता से हृदय और भी उदास हो गया। विश्वसौन्दर्य तो उसी प्रकार ही है—

चिरदिन ए आकाश नवीन नीलिमामय,
चिरदिन ए धरणी यौवने फूटिया रय।

हृदय की आशा-तृष्णा वैसी ही रह जाती है। वैराग्य का जन्म नहीं होता, अनुराग भी कम नहीं होता। अथच अनुराग की वस्तु को कालस्रोत कहाँ डुबाता ले जाता है ? बाहर तथा अन्तर के इस असामञ्जस्य से ही जीवन की प्रथम वेदना उभर आती है। तभी जीव रुदन करता है। यह असामञ्जस्य तथा विरोध अत्यन्त व्यापक है। दुःखमात्र का जन्म इसी असामञ्जस्य-विरोध से होता है। भाव के साथ भाषा का विरोध, आशा के साथ सफलता का विरोध, चाहने के साथ प्राप्त करने का विरोध, मानव की आकांक्षा के साथ समाज की स्थिति का विरोध—इत्यादि सभी विरोध ही एकजातीय हैं। Tradegy एवं Romance के मूल में भी यही विरोध परिलक्षित होता है। इसके समन्वय के बिना शान्ति नहीं है। इसी समन्वय के लिये जीव व्याकुल होकर रोता रहता है। मोहावसान तथा जागरण के मुहूर्त्त में जीव के हृदय में यह व्याकुलता आती है। इसकी प्रेरणा से ही वह महायात्रा का यात्री बनता है। इस यात्रा का अवसान होने पर उसकी समस्त अतृप्ति के विरामस्थल के रूप में इस अनन्त तीर्थ-सङ्गम की प्राप्ति होती है।

(2)

प्रकृत माता के 'गोपन' अन्तःपुर से जीव ने जब सर्वप्रथम इस आलोकमय बहिर्जगत् में प्रवेश प्राप्त किया, उसी दिन से उसके गतिशील जीवन का प्रारम्भ है। उसी दिन से चाहे जितने अस्फुट भाव से हो 'मैं हूँ' (अस्मिता/Consciousness) कहकर समझना उसने सीखा था। उसी दिन से ही इस मायिक जगत् में उसका प्रथम जागरण है।

किन्तु इस जागरण के पूर्व जीव जिस अवस्था में था, वह एक मोहमयी किंवा अज्ञान की अवस्था थी। देश-काल का बोध अथवा देश-काल की सत्ता तब जीव के बोध में नहीं थी। आवर्त्तनशील काल-चक्र की परिधि के बाहर, मूला प्रकृति के गम्भीर अन्धकारमय गह्वर में जीव तब महानिद्रा में पड़ा था। केवल जीव ही क्यों, जीव के साथ-साथ उसका जगत् भी उस दिगन्तविस्तृत शून्यसागर में एकाकार हो गया था। उस अनन्त अतल महासमुद्र में वायु प्रवाहित नहीं होती थी, आलोक-रश्मि भी प्रवेश-पथ नहीं पा रही थी, किसी प्रकार की विचित्रता का विलास भी उस एकार्णव में स्थान प्राप्त नहीं करता था। उस स्पन्दहीन-क्रियाहीन-चेतनाहीन जड़ अवस्था में तब जीव भी निद्रित था। यह है कालातीत स्थिति। इसलिये ग्रन्थकर्त्री ने इसका नाम 'अ-कालनिद्रा (जहाँ काल नहीं है, ऐसी निद्रा) कहा है। (द्रष्टव्य—पृष्ठ 40, पंक्ति संख्या 13-14)

किन्तु यह निद्रा चिरकाल नहीं रहती। 'नियति' की प्रेरणा से इस निद्रा का अवसान हो गया। जीव जाग गया और जागकर चलना प्रारम्भ कर देता है। कालातीत से काल में प्रवेश करते ही 'परिणाम क्रम' का, गतिशीलता का प्रारम्भ होता है। तब जीव का आत्मचैतन्य विकसित होता है। प्रथम-प्रथम यह चैतन्य क्षुद्र एवं खण्ड ज्योति:कण के समान अत्यन्त परिच्छिन्न था, किन्तु क्रमश: यह विश्वमय रूप में व्याप्त होकर सभी विरोधों का समन्वय करते-करते पूर्णानन्द में, अखण्ड सामञ्जस्य में स्वसत्ता की सफलता का सम्पादन करता है। इस क्रमविकास अथवा क्रमव्याप्ति के इतिहास को ही संगम-प्राप्ति का इतिहास कहा गया है।

यह सत्य है कि जीव चैतन्यमय है, किन्तु जब तक वह स्वयं का 'हूँ' रूप से अनुभव नहीं करता, तब तक वह रहकर भी न रहने के समान ही है; क्योंकि प्रकाशमान सत्ता ही प्रकृत सत्ता है तथा आत्मप्रकाश ही यथार्थ प्रकाश है। इस प्रकाश की पूर्णता अथवा अबाधित अवस्था ही आनन्द है। यही है सत्य जागरण। जीव जब अज्ञानभूमि से बाहर होकर विश्वमण्डल में अपने स्थान पर अधिकार करते-करते चलता है, तब से ही उसका स्वसत्ता बोध उद्बुद्ध होकर क्रमश: स्पष्टतर होने लगता है। इस बोध के विकास के साथ-साथ आनन्द की निबिड़ता तथा पूर्णता सिद्ध होती है। जीव का प्रथम जागरण होता है माया के जगत् में। अन्तिम जागरण होता है योगमाया के राज्य में। इन दोनों जागरण के अन्तरालवर्त्ती मार्ग का अनुसरण ही सङ्गम-प्राप्ति का इतिहास है।

जीव इस नियति के वश में होकर मोहमय जड़राज्य की प्रान्तरेखा का लंघन करके जाग जाता है, तब उसके आत्मचैतन्य के सम्मुख सर्वाग्र में पूर्वापर तथा परस्पर विभिन्न वृत्तियों का धाराबोधरूप कालज्ञान प्रकट होता है। यह जो मूला प्रकृति है, जिसका अन्य नाम महासुषुप्ति है, जिसकी गोद में कोटि-कोटि जीवपुञ्ज निरालोक खद्योत-पुञ्ज के समान सोते रहते हैं, यही है शून्य जड़राज्य (त्रिवेणीसङ्गम, पृष्ठ 41, पंक्ति 4)। जड़ इसलिये कहा; क्योंकि यह स्थिर है, चाञ्चल्यहीन है। जब तक इसमें चित्शक्ति का अनुप्रवेश अथवा संचार नहीं होता, तब तक इसमें क्रियाशीलता की

जागृति नहीं होती। यह शक्तिसंचार अथवा सुप्तोन्मेषजन्य उद्वेलता ही प्रकृति का विक्षोभ है तथा विक्षुब्धा प्रकृति ही है कारण-सागर। साम्यावस्थापन्ना प्रकृति का जीव एवं जगत् के कारण रूप में वर्णन करना उचित नहीं है। वैषम्यावस्था में ही सृष्टि का निदान है। (अर्थात् सृष्टि होती है।) प्रकृति की इस साम्यच्युति से 'मैं हूँ' भाव जाग्रत् होता है। तभी सरयूबाला कहती हैं 'सेई कारण-सागर हईतेई' 'आमि' र उदय हईल (पृष्ठ 41, पंक्ति 7)। उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति के अव्यवहित अगले क्षण से ही जीव एवं उसका जगत् काल के स्रोत से अविराम गति से भासित होने लगता है।

जीव चलते-चलते एक दिन चिर-वसन्त के राज्य में आता है। उसका नवीन हृदय उस दिन अनुराग से रंजित है, चक्षु तन्द्रालस है, प्राण विभोर है प्रिय-सम्मिलन-सुख से। उस आनन्दोच्छ्वास की आत्म-विस्मृत अवस्था में उस दिन विश्वमण्डल में सर्वत्र एक सौन्दर्य खिल उठता है। देखते-देखते जीव की गति रुद्ध हो जाती है। काल का अविश्रान्त ताण्डव मानो एक 'अनन्त-मुहूर्त' में हठात् रुक जाता है। मानों कूटस्थ के द्वार पर आकर परिणाम की विपुल धारा एक बारगी परिसमाप्त हो गयी। जीव जिस शक्ति एवं प्राण को पाथेय के रूप में मूलाधार-परमा प्रकृति के भाण्डार से संचित करता है, यहाँ वह सब निःशेष हो जाते हैं। उनकी संज्ञा विलुप्त होती है। साथ-साथ उनका जगत् स्तम्भित हो जाता है। एक शून्यमय अवकाश में जीव तथा जगत् तब थमक कर खड़े हो जाते हैं। जीव के गतिशील जीवन का यह प्रथम विराम है।

इस विराम का प्रयोजन है। इस विराम के बिना गति को नूतन रूप में नहीं पाया जा सकता। जैसे दिन तथा रात्रि के बीच में सन्ध्या है, रेचक तथा पूरक के बीच जैसे कुम्भक है, एक ब्रह्माण्ड एवं अन्य ब्रह्माण्ड के मध्य शून्यमय अवकाश है, उसी प्रकार जीवन की गतिद्वय के मध्य भी विराम है। इस विराम अथवा कारण सागर में अवगाहन न करने पर जीव कहाँ से शक्ति अर्जित करेगा ? जगत् के किसी भी द्वैत के अन्तराल में ऐसी ही एक अव्यक्तावस्था रहती है। अव्यक्त, सर्वकार्य की कारणरूपा इसी मूला प्रकृति का अतिक्रम उसके मध्य से न करने पर एक भाव भावान्तर में परिणत नहीं हो सकता। मन में आता है मानो इसीलिये जीव अपने जगत् को साथ लेकर नव जागरण की प्रतीक्षा में प्रकृति के वक्ष पर निद्रित हो गया है। देश-काल के राज्य में अभिव्यक्ति पाने के पूर्व में जैसे यह कार्य कारण के अन्तःस्थल में, मातृ अंक में निद्रित शिशु के समान लुक्कायित रहता है, ठीक उसी प्रकार ! जैसे बीजाभ्यन्तर में वृक्ष है, कलियों में पुष्प है, जैसे संगीतज्ञ के कण्ठ में अनुच्चारित संगीत है, है फिर भी नहीं है, यह भी उसी प्रकार है। शक्ति बीज गर्भ में धारण करके जीव तब 'अव्यपदेश्य' अवस्था में डूबा है !

बाद में न जाने किस अलङ्घनीय शासन से इस 'निरोध' अवस्था से जीव 'उत्थित' होता है, पुनः जाग जाता है। नूतन शक्ति से, नवीन प्राण को लेकर वह पुनः यात्रा करने लगता है। यह यात्रा ही है वसन्त प्रयाण। शून्यगर्भ से आमित्व बोध को नूतन करके जीव अब अपने आदर्श का अनुसरण करके लोक-लोकान्तर भेद करते हुए

अग्रसर होने लगता है। उसका जगत् इसी दिशा में छूट जाता है। किन्तु दीर्घ दिनों की दौड़, अनुधावन से भी आदर्श का सन्धान नहीं मिलता। जीव जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही देखता है कि उसका आदर्श दूर से दूर होता जा रहा है। ज्ञानवृद्धि के साथ अज्ञान भी बढ़ रहा है, तभी क्रमवृद्धिशील ज्ञान पाकर भी जीव को तृप्ति नहीं मिलती। उसका आदर्श क्रमशः सुदूर रहस्य का आकार धारण कर लेता है।

जीव की गति का विराम नहीं है। वह नये-नये जगत् देखता है। उसके ज्ञान की सीमा बढ़ती जाती है। यद्यपि उसकी दृष्टि का प्रसार-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, तथापि उसने पूर्व में जो देख पाया था, ऊपर उन्नीत होकर वह अब नहीं मिलता। इस तरह जीव धीरे-धीरे निम्नभूमि का, चिर-परिचित सुखमय धरा-धाम का त्याग करके, क्रमशः अधिकतर व्यापक मण्डल से होकर अपने गन्तव्य आदर्श की ओर, उसके पास धावमान होता है। क्रमशः उसके जगत् का वर्ण-वैचित्र्य कम होता जाता है। अब दृश्यपट सर्दवर्ण सम्मिश्रण के कारण शुभ्र शून्यरूप धारण कर लेता है।

अब रंग की क्रीड़ा नहीं रहती। उस लोहित-शुक्ल कृष्ण की विचित्रच्छटा, वह आत्मचैतन्य की विविध अनुपम भंगिमा, छन्दोभेद, उत्थान-पतन—यह सब स्वप्नकुहेलिका उसी प्रकार पता नहीं कहाँ चली जाती है, जैसे सूर्य किरण सम्पात् से मेघमाला। अन्धकार के पश्चात् गम्भीर अन्धकार में, गाढ़तर रहस्य जाल में जीव का चैतन्य आच्छन्न हो जाता है। जीव अपने 'आमित्व' का विसर्जन करने को उद्यत हो जाता है। तब वह समझता है कि अनन्त आकाश में जिस पथ का अवलम्बन करके तारकमण्डल के अनन्तर तारकामण्डल का, क्षुद्र ब्रह्माण्ड के अनन्तर बृहत्तर ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करते-करते वह इतने दिन चला था, वह व्योम मार्ग (पृष्ठ-10) अथवा विश्वातीत के पथ पर अनन्त कालपर्यन्त चलने पर भी उसे अपने प्राणों का आदर्श नहीं मिलेगा। वह नित्यधान किंवा 'परव्योम' चिरकाल तक उसकी सभी शक्तियों से अतीत ही रहेगा। अनन्त कभी भी सान्त नहीं होगा। जीव समझ जाता है कि 'तुरीय' अथवा 'भूमा' को इस प्रकार खोजा नहीं जा सकता। तभी वह और भी आलोक ('Mare light'-Goethe) और भी आनन्द के सन्धान में अन्त तक घूमता है। अन्धकारमय शून्य राज्य में विलुप्त होने के लिये अग्रसर होता है। तब उसकी समझ में आता है कि मध्यपथ में ही उसे आनन्द था; क्योंकि वहीं विश्व है तथा विश्वमध्य में उसका 'मैं' है। यह 'मैं' मध्य की वस्तु है। एक ओर अन्धकार पातालपुरी में अव्यक्त मूला प्रकृति का राज्य है (जहाँ से 'मैं' का उद्भव है) और दूसरी ओर आलोकमय अथवा और भी गाढ़ अन्धकारमय (रहस्यमय) वैकुण्ठधाम है। परव्योम है (जहाँ 'मैं' का लय होता है।)—मध्यस्थल में 'मैं' का वास है। इस मध्यभूमि अर्थात् अभिव्यक्त विश्व से भिन्न आमित्व (Individuality) नहीं है। आमित्व ही जीव का स्वातंत्र्य है। शक्ति है। और अज्ञानराज्य (Unconsciousness) एवं विज्ञानधाम (Absobule consciousness) के मध्य आत्मचैतन्यरूप जीवकण (Self conscious monad) है। यह गया तो जीव का सब कुछ चला गया! फिर भी यह लय प्रकृतिलय नहीं है।

यह है प्राणमय में प्राण का लय (पृष्ठ 10, पंक्ति 1), अर्थात् विश्वव्यापी प्राण की समष्टि में व्यष्टि प्राण का लय। जैसे जल में पड़ रहा बिम्ब जल में मिल गया, उसी प्रकार ! जिस महाशक्ति आवर्त्तन से आमित्व-बोधरूप जीव चैतन्य मध्य में (Between two opposite pole) खिल उठा, उसी चिन्मयी शक्ति में यदि बोध निमग्न हो जाये, उसे 'प्रकतिलय' नहीं कहा जा सकता। जैसे एक तीव्र आलोक में क्षुद्र आलोक अभिभूत होकर अदृश्य हो जाते हैं, यह भी वैसी ही अवस्था है। किन्तु अभिभूत होने पर भी जीव सम्पूर्णतः आत्महारा नहीं हो पाता। गति का अवरोध भंग हो जाता है, विराम का अवसान हो जाता है, नूतन प्रभा में, नूतन सज्जा में जीव पुनः नूतन यात्रा करता है। विश्वातीत के पथ में अब 'वसन्त-प्रयाण' करना, उसे व्यर्थ परिश्रम लगने लगा। वह विश्व के पथ पर यात्रा करना चाहता है। वास्तविक जगत् के सुख-दुःख की यन्त्रणा ग्रहण करके अपना जीवन सार्थक करना चाहता है। शून्यमय आदर्श के पीछे दौड़कर विश्व-विमुख होकर रहना उसे अच्छा नहीं लगता। इसलिये वह विश्व के साथ-साथ, ताल-ताल में चलना चाहता है। वह अब इसे छोड़कर शून्य के मार्ग पर नहीं चलना चाहता। इसका नाम है 'मर्त्य की महायात्रा' (पृष्ठ 50, पंक्ति 19), जिसका साधारण अंग्रेजी नाम है, 'March of Humanity'। यह है 'मानव समाजरूपी महाप्राणी' की यात्रा (पृष्ठ 51, पंक्ति 18) अथवा 'समाज जीवन की ऐतिहासिक यात्रा' (पृष्ठ 10 पंक्ति 18)

किन्तु अब वह चलेगा किस लक्ष्य की ओर ? इस यात्रा का पथ-प्रदर्शक कौन है ?

'That far off divine event to which the whole creation moves.'

वह क्या है ? वह अनागत रूप का वर्तमान आभास कहाँ है ? आदर्श क्या है ? वह पूर्ण आदर्श (Universal Ideal) है। वह है विश्वदर्पण। भले ही वह समग्र भाव से न देखा जा सके, किन्तु खण्डभावेन वह प्रति जीव हृदय में विराजित है। हृदय उपाधि है। यह भेद तथा स्वातंत्र्यवशात् भिन्न-भिन्न लोगों के निकट भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिभात होता है। यह विश्वदर्पण है, जिसका एक-एक खण्ड एक-एक जीव के आदर्श अथवा प्राण के दर्पणरूप से प्रकाशित हो रहा है। यही है समग्र जगत् का आदर्श। इसे एक प्रकार से खण्ड आदर्श समूह की समष्टि भी कहा जा सकता है।

जो जिसे चाहता है, वही उसकी परम वस्तु है। चरम में उसी के साथ संगम लाभ घटित होता है। वर्तमान में भी उसी को केन्द्र करके वह चलता है। उसके जीवन के खण्ड आदर्श में परमानन्द वस्तु का ही आभास प्रतिबिम्बित होता है। यह आदर्श विचारातीत है, ऊर्ध्व-अधः विभाग से अतीत है। द्वन्द्वातीत है। यद्यपि मनुष्य इसके आभास को कभी ऊर्ध्वगामी तो कभी अधोगामी रूप में देखता है, तथापि वह जैसा है, वैसा ही रहता है। तभी इसको भागवत् आदर्श भी कहा जा सकता है। (पृष्ठ 52 पंक्ति 3)। इसमें सब है। अच्छा-बुरा, सत्य-मिथ्या सभी का इसमें स्थान है। अथच किसी

का भी विचार नहीं है। जो चाहे कुछ भी चाहे, वह वास्तव में इसे ही चाह रहा है। भगवान् का यह रूप ही सबका स्वप्नवत् आकर्षण कर रहा है। सभी इस विश्वरूप के ही उपासक हैं। ये हैं वास्तविक भगवान्। इस पथ का नाम है 'वास्तव मार्ग' (पृष्ठ 52, पंक्ति 16) अथवा विश्वपथ (पृष्ठ 52, पंक्ति 11) The Path of Realism किन्तु यह सरल पथ नहीं है। चक्राकार है, कभी कुटिल (Curvilinear) है, कभी कुण्डलवत् आवर्त्तमय (Spiral) है। इस पथ में उत्थान-पतन, आलोक-अन्धकार पर्यायक्रमेण आवर्त्तित होते हैं (पृ. 52-पंक्ति 14, पृष्ठ 51 पंक्ति 12-14)।

भगवान् का जो रूप परव्योम मे हैं, वह है मुक्त, विश्वातीत। उसे पाने की आशा स्वप्नमात्र है और वस्तुत: उस निरञ्जन को कोई नहीं चाहता, वह भी किसी को नहीं चाहता। मानव समाज ऐतिहासिक जीवन की धारा (Historic Volution) है। वह शून्य में धावित नहीं होता। किन्तु उनका जो रूप विश्वात्मक, बद्ध है, वही है सबका लक्ष्य। सबका सभी प्रकार का आदर्श इस विश्वरूप में ही पर्यवसित हो जाता है। यह विश्वात्मक भगवान् बद्ध हैं, क्योंकि प्रत्येक जीव बद्ध है तथा जीव समष्टि भी बद्ध है और जीव समष्टि ही विश्व है। अवश्य एक समय की यह बात है। इन दु:खमय भगवान् का उद्धार-साधन, उनका बन्धन-मोचन ही जीव का कर्त्तव्य है। इसीलिये मध्यवर्त्ती जीव इस दु:ख के देश में आया है। दु:खमय कारावास से मुक्त न होने तक, जगत् से जुड़े दु:ख का अवसान न होने तक उसके जीवन-व्रत का उद्यापन नहीं होगा।

इस प्रकार हम जीव के क्रम-विकासशील जीवन में तीन अवस्थाएँ (Moments) देखते हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि जीव की सत्ता एवं सार्थकता मध्य में रहती। इस पार भी उसकी सत्ता नहीं है, उस पार भी नहीं है। इस पार जड़ राज्य प्रकृति है, उस पार चिन्मय परव्योम अथवा ऐसा ही कुछ एक है। एक ओर अन्धकार, दूसरी ओर तीव्र आलोक। दोनों ओर के ऐसे महासमुद्र उसका ग्रास करना चाह रहे हैं। एक ओर सुख-अन्य दिक् दु:ख, मध्यस्थल में जीव इन दोनों का मानदण्ड स्वरूप !

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव.......। (गीता)

यही मध्यभूमि ही अभिव्यक्त है, यही है जीव का अपना क्षेत्र।

प्रथम तथा द्वितीय अवस्था में गये बिना जीव अपने यथार्थ रूप तथा आदर्श का संवाद नहीं पा सकता। मायाराज्य में जीव की सार्थकता नहीं है। मायातीत चित् सागर में भी नहीं है। जब तक वह योगमाया के आनन्दराज्य में प्रवेश नहीं करता, तब तक वह विभ्रान्त होकर यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। मायिक जगत् में जागकर वह जिस दिन से रूपलालसा में पागल हो उठा था, वह उसी दिन से अरूप में आत्मसमर्पण करने के लिये प्रवृत्त भी हो गया था। तब से उसके जीवन का इतिहास एक व्यर्थ-सी भ्रमण कहानी मात्र है। यद्यपि 'प्राण का रूप' देखकर वह यह सोचकर कि 'इस प्रकार प्राप्त कर लिया' विश्राम करने बैठ गया था, तथापि काल के कषाघात के कारण उसे स्वीकार

करना पड़ा कि यह 'प्राप्त करना' वास्तविक पाना नहीं है। इसीलिये उसके हाथ का मानिक कहाँ 'गुम' हो गया, उसका विश्रामकाल समाप्त हो गया। उसके विश्राम मञ्च का, नाट्यशाला के उत्सव का दीप बुझ गया। फलस्वरूप वह इन सबको अस्वीकार करके अतृप्त हृदय को तृप्त करने की आकांक्षा लेकर सर्वातीत निरञ्जन के अनुसन्धान में शून्यपथ पर रवाना हो गया। अनन्त शून्यराज्य का भेदन करके, सरस्वती सहचारिणी लीला देवी के समान लोकलोकान्तर का अतिक्रमण करके वह Holy Grail के अन्वेषण में लग गया, किन्तु यह यात्रा परिश्रम मात्र ही सिद्ध हुई। आदर्श नहीं मिला, प्राणों की पिपासा भी नही मिटी।

जहाँ भोग है ही नहीं, वहाँ अनन्त भोग तो दूर की बात है, वहाँ भोगाकांक्षा की तृप्ति होगी कैसे ? अत: यह यात्रा निष्फल ही रही। भले ही निष्फल रही हो, तथापि इसमें सार्थकता है। यहाँ आये बिना वह महायात्रा का यात्री ही न हो सकता था। विश्वातीत में से विश्व को पाये बिना समग्र को अखण्डभाव से पाने का उपाय ही नहीं है। भोग में आकर भोग को पाये बिना, वह भोग एक प्रकार 'काम' मात्र है। वह प्रेम अथवा करुणा में जाकर मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा !

तृतीयावस्था में जीव महायात्रा का यात्री बन गया। जो विश्व का पथ है, उसे ही उसने अपना पथ मानकर वरण कर लिया। इतने दिन तक वह इसी पथ से 'धरार एई प्राचीन राजपथ' (पृष्ठ 53, पंक्ति 2) विच्छिन्न होकर दिशाहरा हो गया था (पृ. 10 पंक्ति 19)। इस पथ के अनुसरण से ही उसे संगम-प्राप्ति होती है। यहाँ विशेष (Individual) और शून्य अथवा पूर्ण (Void or Pleroma) का समन्वय है। यह विश्व एक साथ एक एवं बहु तथा शून्य का सामञ्जस्य स्वरूप है।

हम एक बार समस्या को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करते हैं। जीव की स्वतन्त्र सत्ता आमित्व बोध सापेक्ष है। जब यह बोध नहीं था, तब यही कहना होगा कि उसकी सत्ता भी नहीं थी। इस बोध के साथ उसका अस्तित्व विजड़ित है, तभी वह इस बोध को खोना नहीं चाहता। जब तक उसको यह बोध है, तब तक वह क्षुद्र, परिच्छिन्न है। तब तक वह अभावग्रस्त है। पूर्ण में (अथवा शून्य में) वह इस खण्ड सत्तात्मक आमित्व बोध की आहुति भी नहीं देना चाहता; क्योंकि पूर्ण में डूबकर जीव पूर्ण हो जाने पर भी, अपना लाभ नहीं देखता वरन् सर्वनाश समझता है। जो पूर्ण है, वह सर्वदा एक-जैसा ही रहता है। पहले जैसा पूर्ण था, वह आमित्व का ग्रास करके भी वैसा ही पूर्ण रहता है। उसमें कोई वृद्धि नहीं होती। आमित्व चले जाने से तो जीव का सब कुछ, सर्वस्व चला गया। उसमें (पूर्ण में) आनन्द कहाँ है ? इस विरोध का सामञ्जस्य चाहिये।

किन्तु जिन जीवों ने अपना पूर्ण स्वातंत्र्य अभी भी नहीं पाया है, उनके जीवन में ऐसे विरोध का उदय नहीं होता। वे स्वभाव अथवा प्रकृति के दास हैं। अन्धानुवर्त्ती हैं। पशु-पक्षी जैसे प्रकृति की प्रेरणा (Instinct) से कार्य करते हैं, उस प्रेरणा के

प्रतिकूल नहीं जा सकते, ये जीव भी उसी प्रकार के हैं। प्रकृति में जब जो प्रवाह उमड़ता है, वे स्रोतोमुख शैवाल के समान उस प्रवाह में उतरकर प्रवाहानुरूप बहते जाते हैं। उनकी स्वतन्त्रता विश्व के नियम में दबी पड़ी है। अनुसरण ही उनका स्वभाव है। अतएव उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति, क्षुधा-तृष्णा प्रकृति की ही अंगरूपा है। जब तक प्रकृति से भेद है, तब तक यह रहेगा। बाद में संगमान्त में सब नहीं रह जाता। अत: उसके लिये यह चिरस्थायी नहीं है।

किन्तु जो स्वातंत्र्ययुक्त हैं एवं जिनमें आत्मबोध आ गया है, वे ऐसा आत्मसमर्पण नहीं करना चाहते। ऐसे जीव को ही लेखिका सरयूबाला ने 'विद्रोही' कहा है। ये आत्मधर्म को विश्वधर्म में डुबा देना नहीं चाहते। अतएव ये कारण-सागर से उत्थित होकर भी पुन: उसमें निमग्न होकर प्राणत्याग की इच्छा नहीं करते। यदि कभी निमग्न हो भी जाते हैं, तब भी उसमें विलीन नहीं होते। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करके अलग से भासित होते हैं अर्थात् संतरण करते हैं। कवयित्री कहती हैं—

क्षुद्र बालु कणा हृदया थाकिब से ओ भाल,
तउ जेन पृथिवी ते परिणत हईया बृहदाकार प्राप्त ना हई। (पृष्ठ ५७)

इसी कारण निर्वाणमार्ग से इनकी तृप्ति नहीं होती। अथच खण्ड प्राण लेकर हाहाकार नहीं मिटता, अतएव इस विरोध का एक सामञ्जस्य चाहिये।

प्रश्न हो सकता है कि ये सब स्वातंत्र्यप्रिय जीव अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को लेकर एकाकी चुप तो रह सकते हैं। निर्वाण में प्रवेश न करके व्यष्टि के पीछे न दौड़े, तब अपने एकत्व को लेकर चिदाकाश के एक कोने में 'अर्हत्' अथवा 'केवली' के समान पड़े तो रह सकते हैं। ग्रन्थ-लेखिका कहती हैं ऐसा नहीं होता। यदि कोई ऐसा कर सके, तो करे। किन्तु सबके वश की यह बात नहीं है। वश में न होने का कारण है। क्षुद्र होने पर भी इन जीवों का हृदय स्वच्छ है। इसलिये उसमें विश्वजगत् की छाया प्रतिबिम्बित होती है। किन्तु वह अत्यन्त अस्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। क्षुद्र प्राण अनन्त जगत् को हृदय में धारण करना चाहता है, किन्तु इसमें असमर्थ रह जाता है। अतएव अतृप्ति का पुन: संचार हो जाता है। खण्ड को लेकर, आभास को लेकर, छाया को लेकर प्राण और भी क्रन्दन करने लगता है। परिणाम है रसभंग, वेदना की सृष्टि !

तभी जीव को नूतन यात्रा में चलना है। जिससे वह व्यष्टि 'स्वयं' न होकर समष्टि को पा सके। सरयूबाला का कथन है कि जीव को स्वरूप के मध्य रहना चाहिये। वहीं रहकर वह उभय विपरीत पक्षों का समन्वय कर सकेगा। एक ओर है निरञ्जन, दूसरी ओर हैं संसार—बीच में शुद्ध चैतन्य जीव।

ए ऊपरेर आकाश छेडे, एतदूरे थकिते मन सरे ना,
आबार आकशे, शून्ये मिलाईया जाइतेओ पारी ना।
माझे थाकिते चाई।

(3)

हम आलोचना प्रसंग से यह जान सके हैं कि विरोध से ही दुःख की सृष्टि होती है और विरोध का सामञ्जस्य ही आनन्द है। किन्तु किस प्रकार से इस सामञ्जस्य में प्रतिष्ठा प्राप्त हो (प्रतिष्ठित हो सकें), यह एक कठिन समस्या है। चिन्ताशील मानव के मन में चिन्ता-शक्ति उन्मेष के साथ-साथ किसी न किसी आकार में इस समस्या का उदय होता है और जब तक इसका सदुत्तर नहीं मिल जाता, तब तक उसके चित्त में विश्रान्ति नहीं आती। जगत् की समवेत दार्शनिक तथा वैज्ञानिक चिन्ता इस एक ही प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने में विव्रत है और समस्त सामाजिक संस्थान इस एक समस्या के समाधान के लिये उद्भूत होते हैं।

प्रश्न एक ही है, परन्तु उत्तर अनेक हैं। यह एक प्रश्न ही विभिन्न युगों में विभिन्न आकार में उत्थापित हुआ है और युगगत समष्टि चिन्ताशक्ति की विशिष्टता के अनुसार यह प्रश्न विभिन्न प्रकार से मीमांसित हुआ है। किन्तु वह मीमांसा वर्तमान युग में नहीं चलेगी। अब एक नूतन मीमांसा चाहिये। अन्तर तथा बाह्य में ये जो विरोध हैं, इनको मिटाने के लिये जितने उपाय आविष्कृत हैं, उनमें से दो प्रधान हैं। एक है प्राचीन भारतीय एवं संन्याससमूलक पथ। द्वितीय है मध्ययुगीन पाश्चात्य तथा संसारमिश्रित पथ। महायोगी महादेव के मन में भी एक दिन इच्छा जागी, वे भी प्राण का रूप दर्शन करने के लिये व्याकुल हो गये। किन्तु जब यह समझा कि यह इच्छा वासना उनके मिटाने से नहीं मिटेगी, यह मंगल पथ की प्रतिबन्धक है, तब उन्होंने इसका दमन किया। महादेव ने संसार को अस्वीकार किया और ऐसा करके समाधि के अतल सागर में मग्न हो गये। वासना एवं दुःख-तापपूर्ण संसार का कोलाहल (समाधि की) व्योमराशि को भेदकर उनका स्पर्श नहीं कर सका—

नाहि रात्रि दिनमान आदि-अन्त परिमाण,
से अतले गीत-गान कछु ना बाजे।

निर्लिप्त तथा निरञ्जनभाव इस मार्ग का मुख्य तत्त्व है। द्वितीय उपाय है—मध्ययुगीन इटालियन कवि दान्ते के मन में प्राण के रूपदर्शन की लालसा उठी थी, किन्तु उन्होंने महादेव के समान इस लालसा को अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने उसे शुद्ध किया, उसे स्वर्गीय भाव में परिणत किया। तदनन्तर उसके द्वारा मानसी प्रतिमा का निर्माण किया। यह मानसी प्रतिमा (Beatrice) उनकी ही अपार्थिव कल्पना है और हृदय की आकांक्षा की घनीभूत मूर्त्तिस्वरूप है। उन्होंने अपने मन की माधुरी का मिश्रण करके इसकी 'रचना' की थी। पृथ्वी से इस अभाव का पूरण न हो सका। अन्तर्जगत् से ही उस अभाव का पूरण हो सका। मन का 'मानुष' मिल गया, विरोध का समन्वय हो गया। अतृप्ति के अवसान में आनन्द की नव किरणों ने कविवर के अन्धकाराच्छन्न हृदय-गह्वर को आलोकित कर दिया!

इन दो पथों को सामान्यतः दो नामों से अभिहित किया जा सकता है। एक है

त्याग (Renunciation) अथवा वैराग्य (Detatchment), द्वितीय है रञ्जन (Idealism) सरयूबाला प्रथम को ध्यान तथा द्वितीय को अपार्थिव कल्पना कहती हैं। दु:खभञ्जन समस्या का यही दो समाधान प्रचलित है। किन्तु विचार करने पर ज्ञात हुआ कि इन दोनों में कोई भी यथार्थ समाधान नहीं है। जगत् में दु:ख है, पाप-ताप है, हृदय में उत्कट आकांक्षा है, एक-प्रकार से संसार वासनासंकुल दु:खबहुल है। संसार का त्याग करो, वासना के मूल (जड़) का उत्पाटन करो, खोद दो। इससे दु:खों से मुक्ति मिलेगी। यह है प्राचीन मार्ग। मध्ययुग के कवियों ने इस धारणा में अपना समाधान नहीं पाया। उन्होंने विचार किया कि यह है कापुरुषता। संसार-भय से भीत होकर पलायन कर जाना वीरधर्म नहीं है। इस कारण उन लोगों ने वासना-त्याग करके महाशून्य में अवगाहन करने को श्रेयस्कर विवेचित नहीं किया। उन्होंने मध्ययुगीन प्रतिनिधि के रूप में उच्चकण्ठ से घोषित किया कि मनुष्य जीवन की सार्थकता वासना-त्याग में नहीं है। वासना की शुद्धि में है। वासना मात्र ही दु:ख का हेतु नहीं है। मलिन वासना ही सर्व अनर्थ मूल है। वासना को शुद्ध करो। संयमाग्नि में आकांक्षा की मलराशि को भस्म कर दो। तदनन्तर विशुद्धभाव का ऐनक लगाकर जगत् की ओर देखो। तब देखोगे कि जगत् अपूर्व सौन्दर्यमय है, देखोगे कि सर्वत्र ही प्राण के हिल्लोल-हिल्लोल में सुधा-धारा बह रही है। पाप-ताप जगत् से निर्वासित हो गया है। अपने नेत्रों में भाव का अंजन लगा कर देखो। अब कहीं भी अभाव खोज नहीं पाओगे। संसार त्याग नहीं करना है। स्वयं शुद्ध तथा सुन्दर होकर संसार को शुद्ध तथा सुन्दर देखने का अभ्यास करो। यही है साधना।

ग्रन्थकर्त्री वर्तमान युग के नवभाव की साधिका हैं। वे इस समाधान से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने समस्या के अन्तर्देश में दृष्टिपात करके समझा कि अभी भी प्रकृत मीमांसा नहीं हो सकी है। जब तक जीव स्वार्थभाव की प्रेरणा से अनुप्राणित होता अग्रसर होगा, तब तक उसके लिये विरोध भंजन की आशा सुदूर पराहत है। जितना ही चित्त निर्मल होगा, उतना ही यह स्वार्थ संस्कार तिरोहित होता जायेगा। शुद्ध चित्त में ही यथार्थ सामञ्जस्य का उदय होता है। इसी कारण जब तक एकमात्र अपने ही हृदय की दु:खचिन्ता जीव को क्लिष्ट कर रही है, तब तक जीव के अपने-अपने हृदय में स्वच्छता न होने के कारण अन्य का दु:ख प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता, तब तक जीव अपने यथार्थ (ताटस्थ्य) स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर सकता। वह भले ही कैवल्य प्राप्त कर ले, किन्तु यह तो जीव की प्रार्थनीय सफलता नहीं है। यह तो प्रकृत सिद्धि का एकदेश मात्र है।

द्वितीय उपाय अनेकांश में श्रेष्ठ है, तथापि इसमें भी दोष है। यह अतिरिक्त भाव प्रधान (Over-subjective, Idealistic) है, वास्तविकता की गन्ध से वर्जित भी है। स्वार्थ वासना अभी भी अन्तर्हित नहीं हो सकी। यद्यपि इस मत में संसार-त्याग की व्यवस्था नहीं है, किन्तु उससे उद्धार की भी कोई चिन्तना नहीं है। जो जीव इस भाव-साधना का साधक है, उसकी रंजित दृष्टि के सामने समग्र जगत् का रंगालय है,

विलासमंच है, लीला निकेतन है। वह जिस ओर देखता है, वहीं नाना रंग का खेल परिलक्षित होने लगता है। आनन्दाभाव को वह कहीं भी अनुभूत नहीं कर पाता। उसके मन में जगत्-उद्धार का, दु:खमय के दु:ख-विमोचन का कोई भी प्रश्न नहीं उठता। उद्धार तो दूर की बात है! अन्य का जो मर्मभेदी हाहाकार है, उसे भी वह संगीत की चित्तमोहन स्वरभंगी प्रतीत होती है। प्रथम उपाय (समाधि वाला) में जीव जैसे बाह्य जगत् को भूल गया था और अपनी स्वरूपशून्यता के दुर्गम अवरोध रूप कारागार में आबद्ध था, द्वितीयावस्था में जीव उसी प्रकार अपने द्वारा कल्पित नन्दन कानन में भाव मदिरा का पान करके नशे में विभोर है। इस Place of Art से निष्क्रान्त हुए बिना, वास्तविक संसार से परिचित हुए बिना, जीव की सार्थकता-प्राप्ति असम्भव है। प्रथमावस्था है शुद्ध ज्ञान। द्वितीयावस्था है उन्नत भाव। दोनों ही कर्महीन हैं। अत: बहिर्जगत् से सम्बन्ध नहीं हैं।

सरयूबाला का कथन है कि वर्त्तमान युग में ऐसा समाधान नहीं चलेगा (पृष्ठ 5, पंक्ति 8-9)। पूर्वोल्लिखित ज्ञान एवं भाव जब तक सेवारूप कर्म से सामञ्जस्य नहीं पा लेते, तब तक सफलता की आकांक्षा आकाश-कुसुमवत् अलीक है। ज्ञान-भाव तथा से" के समन्वय से ही त्रिवेणी-संगम उद्भूत होगा, जिसके पुण्य-सलिल में अवगाहन करक जीव अपने जीवन की सार्थकता सम्पादित कर सकेगा।

(4)

इस त्रिवेणी-संगम (ज्ञान-भाव-सेवा) में स्नान किये बिना जीव प्रकृत मुक्तिलाभ नहीं कर सकता। दु:खमय भगवान् के उद्धार साधन से ही जीव का जन्म सफल होता है। इसके अतिरिक्त जीवभाव पाने का कोई उद्देश्य ही नहीं है। किन्तु माया राज्य को छोड़कर जब तक योगमाया राज्य में पदार्पण नहीं हो जाता, तब तक जीव इस उद्देश्य के सम्बन्ध में उतना सचेतन हो ही नहीं सकता। जब वह सचेतन होता है, तब प्रथमत: उसका हृदय एक आन्दोलन से चञ्चल हो जाता है। कभी वह अतल सागर में आत्मविसर्जन की इच्छा करता है और कभी उस महासमुद्र की तीरभूमिस्थ शुद्ध सत्वरूपिणी योगमाया के रूप में स्वप्नावेश के समान आविष्ट हो जाता है। योगमाया के विचित्र प्रभाव से शोक-ताप दूर चला जाता है। पाप तथा कदाचार अपने-आप विनष्ट हो जाता है। कठिन तथा कर्कश हृदय में भी प्रेम का संचार होने लगता है। आत्मविस्मृति घटित हो जाती है। जो जीव एक दिन माया के पास अपनी आत्मा को बेंचकर उसके रूप-विलास में अपने को भूल गया था, वह आज योगमाया के आडम्बररहित सौन्दर्य से आकृष्ट है।

जीव आज माया की शृंखला का त्याग करने को उद्यत है किन्तु इस बन्धन का कारण क्या है तथा मुक्ति का उपाय क्या है ? इसके उत्तर में सरयूबाला का कथन है कि इस बन्धन के कारण को नहीं कहा जा सकता। ईसाई धर्म के Original Sin, हिन्दुधर्मोक्त अनादि वासना अथवा अनिर्वचनीय माया कहना, इसके कारण-निर्देश का

व्यर्थ प्रयास मात्र है। तब भी सरोजबाला का अनुमान है कि भगवान् ने ही किसी एक दैवमुहूर्त्त में इस बन्धन को घटित किया है। जीव माया को चाहता है, उसे पाकर अत्यन्त आनन्द लाभ करता है, किन्तु वह आनन्द स्थायी नहीं होता। तृष्णा नहीं मिटी, हृदय का क्षोभ दूर नहीं हो सका, प्राण का अभाव जैसा था वैसा ही रह गया, समस्त जीवन विषमय प्रतीत होने लगा! इसी कारण उसका चित्त माया को छोड़कर योगमाया की ओर आकृष्ट हो सका। किन्तु अनाथ रह गई माया को छोड़ देने से कैसे चलेगा? उसका भी उद्धार करना होगा, तब ही तो अपना उद्धार सम्भव है। माया जब तक मुक्त नहीं होगी, तब तक जीव की मुक्ति की आकांक्षा दुराशा ही है।

किन्तु माया की मुक्ति कैसे होगी? माया तो विश्व प्रेमिक नहीं है। वह एक में आबद्ध है। अनेक में आत्मप्रसार नहीं कर पाती। एक जीव ही उस परमानन्द का अनुभव कर पाता है। क्षुद्र होने पर भी वह उस 'एक' के द्वारा ही माया के बन्धन से मुक्त होता है। जीव जैसे अपनी तृष्णा की निवृत्ति के लिये योगमाया को चाहता है, माया भी उसी प्रकार जीव को चाहती है, अपनी पिपासा मिटाने हेतु। दोनों एक-दूसरे को अपनाकर शान्ति तथा तृप्ति पाना चाहते हैं। दोनों की आकांक्षा एक ही है, तब भी उपाधि-भेद से पृथक् प्रतीत होती है। माया एक के मध्य में ही शान्ति चाहती है। उसी में पिपासा-निवृत्ति का उपाय खोजती है। इसी से वह बद्ध है। जब एक से अनेक के मध्य उसकी पिपासा छिटक जायेगी, तभी उसे मुक्ति मिलेगी। असीम में विस्तृत पिपासा के अभाव में भगवान् नहीं मिल सकते।

यहाँ प्रश्न यह है कि माया जिस प्रकार से जीव को चाहती है, जीव तो अभी उस भाव से माया को नहीं चाह सकता; योगमाया को देख लेने के बाद से उसे अब माया अच्छी ही नहीं लगती। इस सम्बन्ध में सरयूबाला कहती हैं कि जीव तो माया को नहीं छोड़ता। माया को छोड़कर वह तो अकुल निर्वाण समुद्र में निमग्न हो जायेगा। उसका अपना व्यक्तित्व तब खो जायेगा। वह एक ही बार में आमित्व शून्य होकर पड़ा रहेगा। उस समुद्र में डूबकर पुन: निकल पाना अत्यन्त कठिन है। यदि वहाँ पर जीव स्वयं को खो देता है, तब तो माया चिरकाल के लिये अवलम्बन रहित हो जायेगी। अतएव माया का त्याग करके वैराग्य पथ को अपनाकर शून्यसागर में कूद पड़ना संगत नहीं है। वरन् करना वह चाहिये जिससे माया के प्राणों की आकांक्षा निवृत्त हो जाये और उसे साथ लेकर पूर्णभाव की ओर अग्रसर हो जाना उचित होगा। माया की यह माँग पूर्ण करना पड़ेगा।

यही तत्त्व है। हीनयान की अपेक्षा महायान का यही महत्त्व है। बोधिसत्व तथा अर्हत् के आदर्शों में अनेक भेद हैं। करुणा तथा सेवा ही वर्तमान युगधर्म है। बोधिसत्व उसके आदर्श हैं। माया का त्याग नहीं करना चाहिये, उसे विशुद्ध करना है। यही है जीव का प्रधान कर्त्तव्य। वास्तव में जब तक माया की पिपासा शान्त नहीं हो जाती, तब तक 'मैं' माया को छोड़ना चाहने पर भी कैसे छोड़ पायेगा? हमारे प्रति उसका

आकर्षण जब तक रहेगा, तब तक हमारे लिये उसे उपेक्षित कर सकना असम्भव है। इस ऋण का शोधन करना ही होगा।

जीव सृष्टि का मुख्य उद्देश्य है माया का बन्धन-विमोचन। माया एक में ही आबद्ध है, इसलिये कालचक्र का आवर्त्त घूमता जा रहा है। इस चक्र के बाहर आने के लिये उसे अनन्त में स्वयं को प्रसरित करना होगा। यह किये बिना उसे चिरशान्ति का सन्धान नहीं मिलेगा। जीव का कर्त्तव्य यह है कि माया जिससे काल की गति का अतिक्रमण करके मुक्ति प्राप्त कर सके, उसकी व्यवस्था करे। यदि वह यह न करके घृणा अथवा रोष से माया का परित्याग कर देता है, तब तो भगवान् का उद्देश्य असिद्ध रह जाता है। इस कर्त्तव्य का बोध जब जीव के मन में सर्वप्रथम जाग्रत् रहता है, तब एक विचित्र वेदना से उसका समस्त हृदय पीड़ित होने लगता है। एक ओर तो योगमाया (निर्वाण) उसे शाश्वत शान्ति की श्वेत-पताका दिखलाकर उसके चित्त को प्रलुब्ध कर रही है, दूसरी ओर अनाथ मायादेवी का व्याकुल क्रन्दन उसके हृदय को व्यथित किये जा रहा है।

बुद्धदेव के सम्बन्ध में वर्णन है कि जब वे 'बोधि' लाभ करके महाशून्य में निमग्न होने के लिये उद्यत थे, तब निराश्रय जगत् की मर्म वेदना उनके करुण श्रवण में अखण्ड रोदन के रूप में जाग उठी। इस ध्वनि को सुनकर वह अब रह नहीं सके। उन्होंने निर्वाण में प्रवेश नहीं किया, बल्कि प्रतीक्षा करने लगे कि जब तक समस्त जीव सभी प्रकार के दुःखों से चिरकाल के लिये मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक वे निर्वाण में प्रवेश नहीं करेंगे। महायोगीगण का कथन है कि अभी भी बुद्ध सुखावती स्वर्ग में अवस्थान कर रहे हैं। वहीं से निरन्तर दुःख क्लिष्ट जगत् की सेवा में रत हैं।

यह जो विरोध है, इसका ताप अति तीव्र है। साधारण जीव इस अवस्था में व्याकुल हो जाता है। जीव समूह परस्पर एक ऐसे अद्भुत ऐक्यसूत्र में ग्रथित हैं कि एक जन को छोड़कर अन्य एक जन यथार्थ कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते। अथच सर्वत्र ही ऐसा विरोध है कि एक की प्यास बुझाने पर दूसरा प्यासा रह जाता है। जीव तथा माया का यह विचित्र सम्बन्ध है। यही है नियति का बन्धन ! माया क्षुद्र है, योगमाया बृहद् है। माया एकरूप है; योगमाया है अनन्तरूपिणी, विश्वपथ की पथिक ! योगमाया का प्रेम गम्भीर है, स्वप्रकाश तथा सर्वव्यापक है। माया का प्रेम क्षुद्र है। यद्यपि माया सत्य ही जगत् का वेष्ठन किये हुए है, तब भी वह क्षुद्र है। तभी वह अपने अहंकार के कारण योगमाया को तुच्छ मानती है। फिर भी एक दिन माया को भी योगमाया के द्वार पर जाकर आश्रय माँगना ही होगा।

माया अपूर्ण है, अतएव जीव उसे नहीं चाहता। जगत् में पूर्णता पाने के दो उपाय हैं—प्रथम है स्वभाव में सभी एकाकी निरपेक्ष भाव से अपनी स्वतन्त्र धारा का अवलम्बन लेकर आत्मशक्ति का विकास करके पूर्णता प्राप्त करें। वहाँ परस्पर राग नहीं है, द्वेष भी नहीं है। द्वितीय उपाय—किन्तु मानव-हृदय इस प्रकार से पूर्णता लाभ नहीं

कर पाता। एक हृदय का सम्बन्ध अन्य हृदय से भी है। अतएव एक व्यक्ति कभी भी दूसरे की सहायता के बिना प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। तभी जीव को छोड़कर माया का कल्याण ही नहीं हो सकता। जीव ही उसका सोपान स्वरूप है, जिसका आश्रय लेकर वह भगवान् को जान पाती है। रूप का सहारा लेकर ही अरूप को पाया जाता है।

यहाँ स्वभावत: यह प्रश्न उत्थित होता है कि जैसे जीव माया का सोपान है, उस प्रकार माया का सोपान क्या है ? किन्तु जीव माया को सोपान नहीं मानता। मान भी नहीं सकता। उसका विश्वास है कि माया उसकी सोपान-प्राप्ति में बाधा है। जीव के मतानुसार योगमाया ही अरूप-प्राप्ति के लिये सोपान है; क्योंकि योगमाया अनन्त रूपों का खण्ड रूप है तथा इस अनन्त रूप में प्रतिष्ठित होने पर ही अपरूप को पा सकना सम्भव होता है। यहाँ पर विरोध स्पष्टत: जाग उठता है। माया की क्षुधा मिटाने के लिये जीव को अपनी क्षुधा को अतृप्त रखना पड़ता है। कारण यह है कि एक मात्र योगमाया ही उसकी क्षुधा का निवारण कर सकने में, सुधारस किंवा आनन्द देने में समर्थ है। योगमाया का आश्रय लेने पर माया अब जीव को अपने समान भाव से खोज कर भी नहीं पा सकती; क्योंकि तब जीव को पाने के लिये उसे जीव को सब में पाना होगा। यह माया के लिये विष स्वरूप स्थिति है। योगमाया को न छोड़ने पर माया एक बारगी शून्य हो जाती है और इस त्याग के होने पर जीव भी अतृप्त रह जाता है। तब एक अतृप्त जीव से माया को तृप्ति कैसे मिल सकेगी ?

वास्तव में जीव जब तक योगमाया का आश्रय नहीं ग्रहण करता, तब तक उसे तृप्ति नहीं हो सकती। जो स्वयं अतृप्त है, वह अन्य का तृप्ति साधन कैसे करेगा ? माया के हृदय में अनन्त पिपासा है, परन्तु अनन्त जलराशि कहाँ है ? योगमाया ही है यह अनन्त जलराशि, सुधा का अनन्त प्रस्रवण ! तभी योगमाया के शरणापन्न हुए बिना क्या क्षुद्र जीव की क्षमता है कि वह माया के प्राणों की अनन्त व्याकुलता को दूर कर सके ! यह एक विषम समस्या है। सरयूबाला के मत से इसका समाधान भी है। एक प्रकार से यह है आत्मोत्सर्ग। जो क्षुद्र है, जो अल्पप्राण है, वह उत्सर्ग नहीं कर सकता। जो बृहत् है, जिसे ऐश्वर्य का सन्धान मिलता है, उसे ही क्षुद्र के लिये आत्मोत्सर्ग करना होगा। जो कुछ साधना द्वारा अर्जन किया है, उसे क्षुद्र के उद्देश्य से, उसकी मंगल कामना के लिये उत्सर्ग कर देना है। और उसे पाकर क्षुद्र जो आनन्द पाने लगेगा, उस आनन्द से बृहत् को आनन्दित होना पड़ेगा। यही है आत्म-प्रसाद। इसमें दान-जनित रिक्तता नहीं है। एक पूर्णता का आस्वादन है। इस प्रकार से दाता एवं ग्रहीता, दोनों ही आनन्द में रहते हैं। कोई भी अतृप्त नहीं रहता। जगत् के मूलसूत्र में एक प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अन्यथा यदि बृहत् क्षुद्र को लेकर केवल अपने कल्याण में ही आबद्ध रहे, तब जगत् अमुक्त रह जायेगा और इस कारण उसका भी प्रकृत कल्याण साधित नहीं हो सकेगा। दयावृत्ति के विकास तथा उसकी परितृप्ति में जो आनन्द है, महापुरुष के स्वेच्छामूलक आत्मनिवेदन में जो आनन्द है, उसकी तुलना में कैवल्य का सुख भी अत्यन्त तुच्छ है।

सारांश यह है कि माया जब आत्मप्रसार प्राप्त करेगी, तब वह जीव को अनन्त में पा सकेगी। इसके पूर्व यह सम्भव ही नहीं है। किन्तु माया के लिये यह आत्म-प्रसाद प्राप्ति जीव की त्यागमूलक-कृपा सापेक्ष है। माया के क्षुद्रावस्था में रहते जीव एक में भिन्न को नहीं पा सकता। जीव के त्याग अथवा आत्मोत्सर्ग से ही जीव तथा माया, दोनों का कल्याण है।

(5)

जीव का प्रकृत स्वरूप क्या है ? जीवनोद्देश्य क्या है ? किस उपाय से जीव उस उद्देश्य की सफलता का सम्पादन करते हुए परमानन्द-लाभ का अधिकारी हो सकेगा ? इन सब प्रश्नों ने चिरकाल से ही मानव हृदय को व्याकुल कर रखा है और जब तक इनके सदुत्तर की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक शान्ति-प्राप्ति की आशा व्यर्थ है। सरयूबाला ने समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, मैं उसकी संक्षेप में कुछ-कुछ आलोचना करूँगा। यह समाधान वर्तमान युगोचित है, इसे स्वीकार करना होगा। वर्तमान जगत् की चिन्तन-प्रणाली का विश्लेषण करके यह प्रकट होगा कि सभी मनीषी भी अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार न्यूनाधिक रूप से इसके समाधान की ओर आकृष्ट होते हैं।

सरयूबाला ने यह प्रतिपादित किया है कि मध्य में रहना ही जीव का स्वरूप है—इस अवस्था से च्युत होने के कारण जीव आज आनन्द से वंचित है। यदि पुनः एक दिन वह स्वधाम में प्रत्यावर्त्तन कर सके, तब उसके चिर दुःख का उपशम होगा। अन्य किसी भी कृत्रिम उपाय से दुःख-निवारण की संभावना है, ऐसा समझ में नहीं आता। सेवा धर्म ही वर्तमान युगधर्म है। इसका अवलम्बन लेने से स्वधाम-प्राप्ति सम्भव हो सकेगी।

वैष्णव महाजनगण कहते हैं कि जीव भगवान् की तटस्थ शक्ति है। एक ओर है सन्धिनी, संवित् तथा ह्लादिनीरूपा अंतरंगा स्वरूप शक्ति तो दूसरी ओर है बहिरङ्गा माया शक्ति। मध्य में है जीव। जीव मायावरण में आत्मविस्मृत होकर दुःख के सागर में डूबता-उतराता बह रहा है। जिस दिन भगवत् कृपा से स्वरूप शक्ति का स्पर्श होगा और मायिक जगत् से मुक्त होगा, उसी दिन उसे प्रकृत आनन्द का सन्धान मिल जायेगा। इसके पूर्व सम्भव ही नहीं है। मुक्त जीव श्रीभगवान् के नित्यधाम में उनके पार्श्वचर अथवा सेवक रूप में अनन्त काल पर्यन्त लीलारस का सम्भोग प्राप्त करता है। प्रयोजनानुसार उनके साथ अथवा स्वतन्त्रभाव से बद्धजीव का दुःख से उद्धार करने के लिये कुछ समय हेतु प्रपञ्च में अवतीर्ण होता है तथा निर्दिष्ट कार्य साधन के उपरान्त स्वधाम में वापस आ जाता है।

सरयूबाला के मत से जीव का स्थान मध्य में है, किन्तु उसकी दार्शनिक भित्ति कुछ भिन्न है। इसीलिये वैष्णव सिद्धान्त में युगल-प्रेम की इतनी महिमा कही जाती है। इससे तृप्ति न पाकर तृतीय की आवश्यकता का प्रदर्शन सरयूबाला कर रही हैं। इनका

कथन है कि प्रेम द्वन्द्व के मध्य ही पर्यवसित है। जिसमें तृतीय को स्थान नहीं दिया जाता, वह प्रेम है ही नहीं। वह स्वार्थपरता का नामान्तर है। भेद तथा अभेद का सामञ्जस्य ही प्रेम का प्रकाश है। विरह के प्रयोजन रूप में अथवा मिलन के संघटक रूप में तृतीय की स्थिति ही भेदाभेद की प्रतिष्ठाभूमि है। जहाँ तृतीय नहीं है, वहाँ यथार्थ प्रेम की सम्भावना हो ही नहीं सकती। मैं वर्तमान प्रबन्ध में वैष्णव महाजनगण के प्रेम माहात्म्य के ख्यापनार्थ प्रवृत्त नहीं हो रहा हूँ। अतएव उनके सिद्धान्तों का प्रदर्शन तथा उसकी विस्तृत आलोचना से ग्रन्थकर्त्री के खण्डनोद्धार का यत्न नहीं कर रहा हूँ। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि ग्रन्थकर्त्री के स्वमत की आलोचना करूँ।

निविष्ट भाव से जगत् की ओर दृष्टिपात करने से हम सर्वप्रथम यह चित्र देख पाते हैं कि वह सुख-दुःख की मिश्रित छवि है। किन्तु सुख-दुःख को वर्तमान अवस्था में एक कहना कठिन है। तभी उभय का आधार भी आपाततः भिन्न ही मानना होगा। इसलिये जगत् का जो रूप हम देखते हैं, उसके एक ओर है सुखमय की छवि, दूसरी ओर है दुःखमय की छवि ! किन्तु सरयूबाला कहती हैं कि सुखमय एवं दुःखमय परस्परतः विभिन्न भावेन प्रतीयमान होने पर भी, मूलतः एक ही वस्तु हैं। वे हैं पूर्ण भगवान्, जो एक ही साथ सुखमय तथा दुःखमय होने पर भी स्वरूपतः दोनों से अतीत हैं। उनका जो रूप जगत् के ऊर्ध्व में प्रतिष्ठित है, निष्प्रपञ्च है, वह है सुखमय। जो अंश जगद् व्यापक है, विश्व को आच्छादित करके स्थित है, वह है दुःखमय। जब तक जगत् के एक भी प्राणी का दुःख निरुद्ध नहीं हो जाता, तब तक दुःखमय भगवान् कारागार से मुक्त नहीं हो सकते, अथवा विपरीत पक्ष से जब तक दुःखमय भगवान् मुक्त नहीं हो जाते, तब तक जगत् से दुःख की छाया सम्पूर्णतः अपगत हो सकना सम्भव नहीं है। वास्तव में दुःखमय एक व्यक्ति एवं दुःख, एक ही है। दो नहीं है। अतएव एक जन का एक दुःख ही कोटि प्राणि के कोटि दुःख रूप से खण्ड-विखण्ड भाव में प्रतीत हो रहा है। यह भूल जाना होगा कि यह विच्छिन्न व्यष्टिभूत दुःख अध्यासिक है। समष्टि दुःख से अपने व्यक्तिगत दुःख के मिथ्यात्व का अनुभव करना ही होगा। मेरा दुःख वास्तविक दुःख नहीं है। वह उस मूलभूत एक दुःख का ही मायिक प्रतिबिम्ब मात्र है। यह समझ आ जाने पर अपने दुःख को भूलकर नररूपी नारायण का, विश्वमानव का (Universal Humanity) दुःख दूर करने का सामर्थ्य आ जायेगा। जगत् की सेवा करना सम्भव हो सकेगा। दुःखमय का उद्धार-व्रत सफल होगा। सेवा ही वर्तमान युग का धर्म है।

आज भगवान्, सुखमय भगवान् रोते हुए जीव के द्वार पर सेवा प्रार्थी हैं। वे आज (खाली हाथ) न लौट जायें। अतएव हे जीव ! घर से बाहर आओ। जीव की सेवा में बद्धपरिकर हो जाओ। चरम में आत्म-प्रसाद लाभ करो, तभी जीवन की सार्थकता देख सकोगे। वर्तमान युग के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में सरयूबाला का यही प्रधान अनुशासन विदित होता है। Christ ने Charity की जो बात कही है, चैतन्य ने जो जीवदया सिखलायी है, शास्त्र ने जिस 'दानमेकं कलौ युगे' की घोषणा की है, यह भी वही है। सभी का तात्पर्य समान है। अर्थात् इस युग में प्रेम के अतिरिक्त कोई पथ ही नहीं है।

किन्तु जगत् की दुःखबहुलता का कारण क्या है ? दुःख कहाँ से आया, क्यों आया, कब आया ? इसकी सार्थकता क्या है ? इसका कोई गम्भीर नैतिक उद्देश्य है, अथवा नहीं ? प्राचीन काल से आधुनिक वैज्ञानिक युग पर्यन्त इस समस्या का उत्तर नाना दिक् में नानाभाव से देने की चेष्टा की गयी है। सरयूबाला ने भी इसका एक उत्तर दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो-जो कहा है, उसकी विशेष रूप से पर्यालोचना करने से यह विश्वास हो जाता है कि उनके मत से चरम दृष्टि में दुःख एक खेल ही है। भगवान् हैं पूर्णानन्दमय। इस आनन्द का भण्डार सर्वदा पूर्ण है। तभी समय-समय (?) पर उच्छ्वास उठने पर वह अनन्त आधार भी रस को अब पकड़े नहीं रहता, रोके नहीं रहता। मानो वह उद्वेलित होकर रसधारा को चारों ओर बरसा देता है। किन्तु वह पड़ेगी कहाँ ? उसके लिये एक पात्र चाहिये। तभी वहाँ से दुःखमय का आविर्भाव होता है। दुःखमय ही इस उच्छ्वसित रस प्रवाह को धारण करने में समर्थ हैं, वे ही पात्र तथा आधार हैं। किन्तु यह दुःखमय कोई अन्य नहीं है। वे तो स्वयं ही दुःखमय भी हैं। तभी कहना होगा कि उनका आनन्द उनमें ही पड़ रहा है। एक ओर से वे दे रहे हैं (दाता), दूसरी ओर से वे ही वह ले रहे हैं (ग्रहीता)। वे ही एक साथ प्रेमिक एवं प्रेमपात्र, दोनों है। यहाँ तक कि प्रेम उनका ही रूप है।

यह समझ लिया कि प्रेमिक-प्रेमाधार, दाता-ग्रहीता सब वे ही हैं। सुखमय भी वे हैं, दुःखमय भी वे ही है। तब मैं कौन हूँ ? जीव क्या है ? सरयूबाला कहती हैं जीव इस 'दानलीला की विलासभूमि है'। जीव मध्यवर्त्ती (Medium) है। जीव के मध्य से ही यह लीला सम्पन्न होती है। दान है जीव की मध्यवर्त्तिका में। ग्रहण भी वही है। अर्थात् दुःखमय की सेवा करने के लिये जीव की ही सेवा करना होगा। हम जब जीव को देते हैं, तब वास्तव में हम जीव को नहीं देते। उन्हें देते हैं (दुःखमय भगवान् को देते हैं)। जब जीव से हम कुछ पाते हैं, तब वास्तव में जीव से नहीं पाते, सुखमय भगवान् से पाते हैं। जीव केवल मध्य में पड़ा रहता है। जीव इस लीला का सहायक मात्र है। न तो जीव कुछ देता है, न तो जीव कुछ लेता है।

सुखमय एक ओर है, दुःखमय दूसरी ओर है। जीव है मध्य में। तभी जीव है तृतीय। इसी तृतीय की वाणी को सरयूबाला ने विभिन्न दिक् से तथा विभिन्न प्रकार से प्रचारित करने का प्रयत्न किया है।

जीव मध्य में है। तभी सुखमय-दुःखमय के मध्य इतना व्यवधान है। जीव दोनों के मध्य की बाधा है।

दूसरी ओर जीव मध्य में है, तभी सुखमय-दुःखमय का मिलन सम्भव हो जाता है। जीव दोनों का योजक है, बन्धन 'सेतु' है।

इसका तात्पर्यार्थ है कि 'आमित्व' के अभाव में लीला नहीं हो सकती। 'मैं' को छोड़कर न तो विरह है, न मिलन ही है।



रस तथा सौन्दर्य

सौन्दर्य की बात कहने के पहले रस का वर्णन आवश्यक है। जगत् रस के लिये पागल है। कैसे रस मिले, कहाँ मिलेगा, कहाँ रस है, इसका सन्धान कोई नहीं जानता, तब भी सभी रस के इच्छुक हैं। मधुकर गुंजार करते-करते पुष्प से पुष्पान्तर में भ्रमण करता है। उसे भी रस की आकांक्षा है। योगी योगमग्न है, भोगी भोग-विलास में विभोर है, स्त्री को चाहता है, पुत्र को चाहता है, जहाँ सौन्दर्य देखा, उधर ही दौड़ पड़ता है। सब ही रस की पिपासा में, रस के लोभ में चंचल हैं। रस के बिना प्राणी बच नहीं सकता। 'कोह्यन्यात् क: प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्।—रस ही सब है। रस ही सार है। रस ही सत्व है।

जिसको आस्वादन नहीं मिला है, उसके लिये आकांक्षा नहीं हो सकती। रस के लिये जगत् पागल है। अत: उसकी अनुभूति कभी न कभी अवश्य हुई है। निश्चय ही एक दिन समस्त जगत् उस रसपान में मतवाला होकर आत्महारा हुआ था। तत्पश्चात् नियति की प्रेरणा से उस अवस्था से उसकी विच्युति हो गयी। योग से भ्रष्ट होकर जगत् अब उसकी पुन: प्राप्ति की आशा में मणिहारा सर्प के समान अशान्त है। जब तक पुन: यह योग-स्थापना नहीं होगी, तब तक इस अशान्ति के मिटने की सम्भावना नहीं है।

जिस वस्तु का स्वाद जिसने पाया नहीं है, उसके लिये उसकी आकांक्षा का जन्म नहीं हो सकता। किन्तु हमने रस का स्वाद कब पाया था, कहाँ और किस प्रकार से पाया था ? कोई-कोई कह सकते हैं कि इस प्रश्न की कोई विशेष सार्थकता नहीं है। क्योंकि जीवन के अतीत अध्याय पर दृष्टिपात करने पर सभी को स्वीकार करना होगा कि सभी को अल्पविस्तर यह रसानुभूति कभी न कभी अवश्य हो चुकी है। अच्छा लगना, सुन्दर बोध करना, आनन्दानुभव करना—यह कभी किसी को घटित नहीं हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव रसाकांक्षा होना कुछ भी विचित्र नहीं है। किन्तु यह उत्तर समीचीन प्रतीत नहीं होता। उसका प्रधान कारण यह है कि जो जिसे चाहता है और जो अनुभव करता है, वह सजातीय नहीं है। आस्वादन करता है बेदाना की, अथच चाहता है अंगूर। ऐसा हो नहीं सकता। जिस रस का अनुभव किया, वह परिच्छिन्न, एकदेशिक, क्षणिक तथा मलिन था। किन्तु जो चाहते हैं, वह इससे विपरीत है। यदि पूर्ण आनन्द, पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण-प्रेम का कभी आस्वादन नहीं किया है, तब उसके लिये तृष्णा कैसे जागी ? जो परम सौन्दर्य पीछे रहकर इस तृष्णा का उद्दीपन कर रहा है, उसे पुन: सम्मुख उपलब्ध किये बिना तृष्णा की निवृत्ति नहीं हो सकती। संसार में जितना ही आनन्द पाता हूँ, जितना ही सौन्दर्य देखता हूँ, उतना ही प्राणों में अभाव बोध और बढ़ता जाता है। देखने पर भी और देखने की साध नहीं मिटती; लगता है यह अपूर्ण है। जब जितना ही अपूर्ण समझता हूँ, तब उतनी ही सीमा दृष्टिगोचर होने

लगती है। तभी अज्ञातरूप से प्राण क्रन्दन करने लगता है। विचार आता है कि और आगे चलूँ, हो सकता है कि सुन्दर भविष्यत् में किसी एक दिन उसे पकड़ सकूँगा। किन्तु हाय मोह ! यह समझ नहीं पाता कि काल प्रवाह में इस आकांक्षा की पूर्त्ति नहीं हो सकती। जितनी भी आनन्द वृद्धि हो, सौन्दर्य चाहे जितना उज्ज्वल क्यों न हो, तृप्ति तब भी सुदूर पराहत है; क्योंकि और भी विकास सम्भव है और कभी भी इस क्रमविकास की सम्भावनीयता दूर नहीं हो सकेगी। इससे यह ज्ञात होगा कि हृदय जो चाहता है, वह ससीम सौन्दर्य किंवा परिमित आनन्द नहीं है। यदि होता, तब एक न एक दिन क्रम विकास के फल से उसकी तृप्ति हो जाती। वास्तव में वह असीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम तथा निरवच्छिन्न आनन्द चाहता है। पूर्ण सौन्दर्य का संभोग हुआ है तभी वह पूर्ण सौन्दर्य की आकांक्षा कर रहा है। विच्छिन्न सौन्दर्य से तृष्णा नहीं मिटती। जिससे विरह हो गया था, उसको पाये बिना व्याकुलता का अवसान कैसे होगा ?

अत: प्रश्न उत्थित होता है—यह पूर्ण सौन्दर्य हमने कब पाया था एवं कहाँ पर पाया था ? मैंने पहले देखा है कि कालक्रमेण यही पूर्ण सौन्दर्य मैं नहीं पा रहा हूँ। कोटिकल्प में भी मैं ऐसा सौन्दर्य नहीं पा सकूँगा, जिसके परे और सौन्दर्य हो ही नहीं सकता। अर्थात् काल के मध्य पूर्ण सौन्दर्य का विकास नहीं होता। काल में जो विकास होता है, वह क्रमविकास है। यही क्रम का अवसान नहीं है, और भी अधिक, और भी अधिक होता जाता है परन्तु कभी भी पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, यदि यह सत्य है, तब यह भी सत्य है कि काल में कभी भी इसकी अनुभूति नहीं होती। अर्थात् मैंने जिस पूर्ण सौन्दर्य की अनुभूति की थी, वह किसी सुदूर अतीत में नहीं, किसी दिगन्तस्थ नक्षत्र में नहीं, किसी काल अथवा देश में भी नहीं की थी।

अतएव एक प्रकार से यही प्रश्न अनुपपन्न है, किन्तु घूम-फिर कर तब भी यही प्रश्न रह जाता है। परस्परत: विरुद्ध होने पर भी यह सत्य है कि इस सौन्दर्य का आस्वादन जब मैंने किया था, तब काल नहीं था। जहाँ किया था, वहाँ देश नहीं था। वह थी मेरी योग-अवस्था अथवा मिलन-अवस्था। तत्पश्चात् यह वर्तमान अवस्था है योगभ्रंश अथवा विरह। पुन: उस योग में लौटने की चेष्टा करता हूँ। पूर्ण मिलन ही चाहिये। अर्थात् देशकाल में निर्वासित हुआ हूँ। पुन: देश-काल भग्न करके-विलीन करके, तद्रूप योगयुक्त होने की इच्छा है। किन्तु यह वियोग क्या नितान्त वियोग है ? पूर्ण के साथ से विच्छेद क्या सत्य में ही वास्तविक है ? ऐसा नहीं है। विच्छेद सत्य है। वियोग भी स्वीकार्य है, किन्तु उस वियोग में भी नित्य योग खोया नहीं है। वह कभी भी नहीं खोता। यदि खो गया तब तो यह वियोग भी चिर वियोग हो जाता। पुन: लौटने की सम्भावना ही न रहती।

यह जो आकांक्षा तथा यह जो ससीम अतृप्ति है, वही यह बतला देती है कि असीम के साथ योग पूर्णत: टूटा नहीं है ! स्मृति है—अत: योग है। यही योग यही

अनुभूति अस्पष्ट है यह स्वीकार्य है, परन्तु यह है। यदि यह अनुभूति, यदि यह पूर्वास्वादन न रहता, तब तो सौन्दर्य का कोई मानदण्ड ही नहीं रह जाता। मानदण्ड के अभाव में तुलना सम्भव ही नहीं होती। जब दो विकसित पुष्प को देखकर किसी समय एक को दूसरे की अपेक्षा सुन्दर माना जाये तब अज्ञात रूप से सौन्दर्य के मानदण्ड का प्रयोग ही किया जा रहा है। जहाँ तारतम्य बोध है, वहाँ निश्चय ही मन की न्यूनाधिक निर्णायक उपाधि है। प्रकृत स्थल में चित्तस्थ पूर्ण सौन्दर्य की अस्पष्टानुभूति अथवा अनुभवाभास ही बाह्य सौन्दर्य के तारतम्यबोध का निमित्त है। अर्थात् बाहर की वस्तु देखकर उसमें से जो पूर्ण सौन्दर्य के जितने अधिक सन्निकृष्ट विवेचित होता है, वह उतना ही सुन्दर लगता है। सौन्दर्य का विकास जिस प्रकार से क्रमिक है, उसका सन्निकर्ष भी उतना ही क्रमिक है। जैसे बाहर पूर्ण विकसित सौन्दर्य कभी भी सम्भव नहीं है, उसी प्रकार से इस सन्निकर्ष की चरमावस्था अर्थात् एकीभाव भी सम्भव नहीं है।

जब देश तथा काल में पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त नहीं होता एवं जब वृत्ति ज्ञान देश तथा काल सीमा में आबद्ध है, तब पूर्ण सौन्दर्य वृत्ति में प्रकाशित नहीं होता, यह सत्य है। वृत्ति तो पूर्ण सौन्दर्य की प्रतिबन्धक है। सौन्दर्य का जो पूर्णास्वाद है, वह वृत्तिरूपेण विभक्त हो जाता है। वृत्ति में जिस सौन्दर्य का बोध होता है, वह है खण्ड सौन्दर्य, परिच्छिन्न आनन्द। पूर्ण सौन्दर्य स्वयं ही स्वयं का प्रकाशन करता है। उसे अन्य कोई प्रकाशित नहीं कर सकता। वृत्ति द्वारा जिस सौन्दर्य का आभास स्फुटित होता है, वह सापेक्ष है, परतन्त्र है, क्रम वृत्तिशील तथा कालान्तर्गत है। पूर्ण सौन्दर्य इससे विपरीत है। इस पूर्ण सौन्दर्य की छाया पकड़कर ही खण्ड सौंन्दर्य का आत्मप्रकाश होता है।

तब क्या पूर्ण सौन्दर्य एवं खण्ड सौन्दर्य दो पृथक् वस्तु नहीं है ? वैसा नहीं है। दोनों ही वस्तुतः एक है। तब इस वियोगावस्था में दोनों को एक कह सकना सम्भव नहीं है। दोनों पृथक् हैं। यह जो दो का अनुभव है, इसी में वियोग की व्यथा लुक्कायित रहती है। इसे बलपूर्वक एक नहीं किया जा सकता। किन्तु सत्य तो यह है कि दोनों ही एक हैं। जो सौन्दर्य बाहर है, वही अन्दर है। जो खण्ड सौन्दर्य होकर इन्द्रियों के द्वार पर वृत्तिरूपेण विद्यमान है, वही पूर्ण सौन्दर्य रूपेण अतीन्द्रियभावेन नित्य प्रकाशमान है। गुलाब में जो सौन्दर्य है, वह पूर्ण सौन्दर्य हैं। शिशु के फुल्ल मुखकमल में जो शोभा है, वह भी वही पूर्ण सौन्दर्य है। वह जब, जहाँ जिस भाव से अथवा जितने प्रकार से सौन्दर्य बोध कर रहा है, वह भी पूर्ण सौन्दर्य ही है।

प्रश्न उत्थित होता है यदि सब ही पूर्ण सौन्दर्य है, यदि सभी आस्वादित तथा आस्वाद्यमान है, तब फिर से सौन्दर्य की आकांक्षा क्यों होती है। बात यह है कि, पूर्ण सौन्दर्य बोध अस्पष्टतः सभी में है। किन्तु अस्पष्टता ही अतृप्ति का हेतु है। इसी अस्पष्ट को स्पष्ट करना सभी चाहते हैं। जो छाया है, उसे काया देने की इच्छा होती है। वृत्ति से इस अस्पष्ट का स्पष्टीकरण होता है। जो अभी छाया के समान था, मानों वह स्पष्ट रूप से भासित हो उठा। किन्तु भासित हो रहा है खण्डभाव से। तभी वृत्ति

की सहायता से स्पष्ट सौन्दर्य का साक्षात्कार होने पर भी खण्ड के असीम होने के कारण परिपूर्ण तृप्ति नहीं होती। वृत्ति तो अखण्ड सौन्दर्य को पकड़ नहीं पाती। अखण्ड सौन्दर्य के प्रकाश से वृत्ति का स्तम्भन हो जाता है। इसे और स्पष्ट कहा जा रहा है। जैसे एक खिला गुलाब मेरी दृष्टि के सामने है। इसकी सुन्दरता ने मुझे आकर्षित किया। इसे सुन्दर मानकर अनुभव करता हूँ। इस अनुभव का विश्लेषण करके मुझे क्या मिलता है ? यह सौन्दर्य कहाँ है ? क्या यह गुलाब में है अथवा मुझमें है, अथवा दोनों में है ? इस अनुभव का स्वरूप क्या है ?

आपातत: यही प्रतीत होता है कि यह शुद्ध गुलाब नहीं है। यदि यह वही होता, तब सभी गुलाब को सुन्दर ही देखते। किन्तु ऐसा नहीं होता। यह शुद्ध 'मैं' में अर्थात् द्रष्टा में है, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता, तब मैं सब कुछ को सुन्दर ही देखता। किन्तु ऐसा नहीं देखता। अत: यह समझा जायेगा कि इस विश्लेषण से यह सिद्धान्त होता है कि वर्त्तमान क्षेत्र में जब वृत्ति द्वारा बोध हो रहा है, तब सौन्दर्य बोध खण्डित हो रहा है। एक ओर है अस्पष्ट अथच पूर्ण सौन्दर्य जो मुझमें हैं, दूसरी ओर है स्पष्ट अथच खण्ड सौन्दर्य जिसे गुलाब में देखता हूँ। किन्तु यथार्थ रसस्फूर्ति काल में ऐसा नहीं रहता। तब मुझमें सौन्दर्य नहीं है, गुलाब में भी नहीं है। मैं और गुलाब तब एकरस हैं, साम्यावस्थापन्न हैं। अब वहाँ स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही है। यही है पूर्ण सौन्दर्य, जिसमें भोक्ता तथा भोग्य दोनों नित्य सम्भोगरूपेण विद्यमान हैं।

वृत्ति द्वारा सौन्दर्योपलब्धि किसे कहते हैं ? जब कोई निर्दिष्ट वस्तु को प्रत्यक्ष करता हूँ, तब अल्पविस्तर वह वस्तु मेरे चित्तस्थ आवरण को आघात देकर दूर कर देती है। चित्त पूर्ण सौन्दर्याभासमय है। किन्तु आवरण से आवरित रहने से अस्पष्ट था। किन्तु ढका होने पर भी पूर्णत: आवरित, ढ़का नहीं था। मेघ सूर्य को ढ़क लेता है, किन्तु पूर्णत: नहीं ढक सकता। यदि पूर्णत: ढक लेता, तब मेघ कैसे परिलक्षित-प्रकाशित हो सकता था। इसी प्रकार आवरण चित्त को पूरा नहीं ढक सकता। चित्त को ढक लेता है, किन्तु आवरण भेद करके भी ज्योति:स्फुरण होता है। तभी पूर्ण सौन्दर्य आवरण के प्रभाव से अस्पष्ट होने पर भी पूर्णत: अप्रकाशमान नहीं है। जहाँ भी चित्त है, वहाँ यही बात प्रयोज्य है। तब भी मात्र अस्पष्टभाव का तारतम्य रहता है। यह जो आवरणजन्य अस्पष्टता है, आवरण के विनाश से वह स्पष्टता में परिणत हो जाती है। किञ्चित् अपसारित होने पर यह स्पष्टता भी किञ्चित् जागती है। जैसे गृह में यदि कोई छिद्र हैं, उससे अनन्त आकाश का एक देश ही दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार आंशिक भावेन आवरण भंग होने से पूर्ण सौन्दर्य का एकदेश मात्र ही प्रकाशित होता है। यह प्रकाशमान एकदेश ही खण्ड सौन्दर्य के नाम से परिचित होता है। यह आंशिक आवरणभंग ही वृत्तिज्ञान है। अत: जो गुलाब का सौन्दर्य है, उसमें पूर्ण सौन्दर्य ही है। तथापि मात्र एकदेश में। आवरण भंग के तारतम्यवशात् उद्घाटित सौन्दर्य का तारतम्य अथवा वैशिष्ट्य निरूपित होता है। आवरण भंग का वैशिष्ट्य नियामक कौन है ?

आपाततः इसे बाह्य पदार्थ का स्वरूपनिर्दिष्ट वैशिष्ट्य ही कहना होगा। किन्तु हम बाद में देखेगें कि यही चरम कथा नहीं है। अतः इस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि आवरण भंग का भेद स्वाभाविक है। आपाततः यह कहना ही होगा कि आगन्तुक कारण की विशिष्टता से ही आवरणापगम का वैशिष्ट्य संघटित होता है। स्फटिक सन्निधान में नीलवर्ण की स्थिति से स्फटिक में नीलाभास होता है, पीतवर्ण की सन्निधि से स्फटिक में पीत वर्णाभास होने लगता है। यही है आगन्तुक कारणजन्य भेद का दृष्टान्त। चक्षुसन्निकृष्ट घट से घटाकार वृत्ति तथा पट से पटाकार वृत्ति को चित्त धारण करता है। यही है आगन्तुक भेद। ठीक इसी प्रकार से फूल के सौन्दर्य तथा लता के सौन्दर्य, इन दोनों के अनुभवगत भेद को समझना होगा। फूल के सौन्दर्यास्वाद में जो वृत्ति है, लता के सौन्दर्यास्वाद में उससे विलक्षण वृत्ति है। इसका कारण आगन्तुक है। जैसे फूल तथा लता का वैशिष्ट्य सत्तागत है, उसी प्रकार ज्ञानगत भी है और आस्वादनगत भी है। अतः मानना होगा कि फूल तथा लता में ऐसी विशेषता कुछ है, जिससे एक है सौन्दर्यानुभूति का उद्दीपक दूसरा है अपर प्रकार।

किन्तु यह है अपेक्षिक सत्य। यदि बाह्य पदार्थ परमार्थतः नहीं है, अथवा जिस अवस्था में नही है, तब वहाँ पर बाह्य पदार्थ की स्वरूपगत विशिष्टता द्वारा रसानुभूति के वैचित्र्य का उपपादन नहीं किया जा सकता। जैसे सत्ता के एक तथा अखण्ड होने पर भी फूल तथा लता खण्ड सत्ता है, ज्ञान के एक होने पर भी फूलरूप ज्ञान तथा लतारूप ज्ञान परस्पर विलक्षण है, उसी प्रकार सौन्दर्य के एक अथवा अखण्ड होने पर भी फूलरूप सौन्दर्य तथा लतारूप सौन्दर्य परस्परतः भिन्न हैं। इस जगत् में दो वस्तु ठीक एक-जैसी नहीं है। प्रत्येक वस्तु का एक-एक स्वभाव है, एक व्यक्तित्व है, एक विशिष्टता है, जो द्वितीय वस्तु में नहीं है। यदि वह सत्य है तब खण्ड सत्ता जिस प्रकार से अनन्त है (संख्या तथा प्रकार में) खण्डज्ञान भी इसी प्रकार का है, खण्ड सौन्दर्य भी इसी प्रकार का है। किन्तु जो सत्ता है, वही तो ज्ञान है; क्योंकि प्रकाशमान सत्ता ही ज्ञान है। अप्रकाशमान सत्ता ही अलीक है और जो ज्ञान है, वही है आनन्द; क्योंकि अनुकूल ज्ञान अथवा अच्छा लगना ही आनन्द अथवा सौन्दर्यबोध है। प्रतिकूल ज्ञान अथवा अच्छा न लगना ही दुःख अथवा कदर्यता है। जब सत्ता ही ज्ञान है तब वह है नित्य ज्ञान। और जब ज्ञान ही आनन्द है तब वह है नित्य संवेद्यमान आनन्द। यह नित्य संवेद्यमान आनन्द ही रस है। अतः रस का सदाकालीन अभिन्नभाव से आस्वादन ही अखण्ड अथवा पूर्वानुभूति का स्वरूप है। यह वृत्ति नहीं है, रसस्फूर्ति है।

अतएव रस पदार्थ में सत्ता एवं ज्ञान का अन्तर्निवेश है। रस से सत्ता अथवा ज्ञान का वास्तव में पार्थक्य नहीं है। अतएव रस एक होकर भी अनन्त है। सामान्य होकर भी विशेष है। एक विशिष्ट रसस्फूर्त्ति है पुष्प तथा एक विशिष्ट रसस्फूर्त्ति लता है। दोनों में आस्वादगत भेद है। तभी जगत् में कोई अभाव को सहन नहीं कर पाता। एक के अभाव को दूसरा पूरा नहीं कर पाता। प्रति वस्तु की मर्यादा है जो अलंघनीय

है। यह समझ में आ गया कि पूर्ण सौन्दर्य ही खण्ड सौन्दर्य है। किन्तु खण्ड सौन्दर्य जब वृत्ति में प्रकाशमान है, तब वह रसविशेष नहीं है। रसाभास ही है। यह रसाभास विक्षिप्त वृत्ति के निरोधवशात् यथार्थ रस में परिणत हो जाता है, जिसे Ecstatic अथवा Assthetic entution कहा जा सकता है।

यह जो रस विशेष है, यह अनन्त है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के स्फुरण तथा आस्वादन की विशेषता रहती है। फिर भी जो आलंकारिगण इसे श्रेणीबद्ध करते हैं, वे केवल जातिगत भेद लक्ष्य करके शास्त्रीय व्यवहार की सुन्दरता हेतु ऐसा करते हैं। मधु का स्वाद तथा गुड़ का स्वाद एक-जैसा नहीं है। मधु का स्वाद तथा लवण का स्वाद भी एक-जैसा नहीं हैं। तथापि जिस कारण से मधु तथा गुड़ को एक श्रेणी में रखा जाता है, वैसे मधु तथा लवण को एक श्रेणी में नहीं रख सकते। इसी कारण से आलंकारिकगण रस का भी श्रेणी-विभाजन करते हैं। अत: यह ज्ञात होता है कि मधु तथा गुड़ के प्रयोजनवशत: एक जाति के अन्तर्गत होने पर भी वास्तव में दोनों में आस्वादगत विचित्रता है। इसी प्रकार एक रस तथा अन्य रस में, दोनों में आस्वादगत विचित्रता है। इसी प्रकार एक रस अन्य रस के साथ एक श्रेणीयुक्त होने पर भी (जैसे शृंगार) एक ही प्रकार का नहीं होता। यदि सत्ता तथा ज्ञान के वैचित्र्य में कोई सार्थकता है, रस में भी वही है। अतएव एक प्रकार से रस अनन्त है, दूसरे प्रकार से वह निर्दिष्ट संख्यक है। अथच मूल रस एक ही है।

यहाँ यह विचार करने का प्रयोजन नहीं है कि इसकी निर्दिष्ट संख्या कितनी है। हम केवल प्रारम्भ की बातें समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। यहाँ जो अनंतरस कहा, इसमें प्रत्येक का अवस्थागत भेद सम्भव है। यह भेद शुद्ध तथा मलिन रूप से द्विविध है। प्रत्येक रस शुद्धभाव से स्वप्रकाश है। तभी यह यथार्थत: रस पदवाच्य है। जब यह मलिन भाव है, तब मिश्रित हो जाने के कारण यह प्रकृत रस न होकर रसाभास है। यह जो एक-एक शुद्ध स्वप्रकाश रसास्वाद है, उसकी भी दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था है चिरस्थिर। उसमें प्रवेश करने पर पुन: नीचे उतरना नहीं पड़ता। द्वितीय अवस्था स्थिर होने पर भी कालावच्छिन्न है। वहाँ से व्युत्थान संस्कार की प्रबलता के कारण उतर जाना पड़ता है। दोनों ही स्वच्छ तथा उज्ज्वल हैं। वास्तव में दोनों एक हैं। फिर भी एक चांचल्य किंवा मालिन्य की सम्भावना से विरहित है और अन्य एक में वह सम्भावना है। एक में व्युत्थान संस्कार तथा निरोध संस्कार नहीं है अथवा चिर-निद्रित है और एक में वह है। किन्तु आस्वादन का कोई तारतम्य नहीं है।

अतएव जब एक खण्ड सौन्दर्य देखकर हम उससे संयुक्त होते हैं (सम्भोग करते हैं) तब प्रथमत: वह विक्षिप्त वृत्ति का आस्वादन है। वह भले ही एक विशिष्ट (Unique) सौन्दर्य का ही आस्वादन हो किन्तु वह आस्वादन निर्मल नहीं है, अत: गम्भीर नहीं है। कोई उस आस्वादन से आत्महारा नहीं होता। क्रमश: जब वृत्ति स्थिर हो जाती है, अर्थात् जब वृत्ति अपने क्षेत्र से अन्य विषय को हटा देती है, तब वहाँ

एकमात्र खण्ड सौन्दर्य का ही प्रकाश होता है, अर्थात् जब वृत्ति समस्त विषयों की आहुति उस एक सौन्दर्य में दे देती है और उस एक से ही प्रकाश प्राप्त करती है, उस समय का आस्वादन कुछ नूतन आस्वादन नहीं होता। वह उस विक्षिप्त अवस्था का ही आस्वादन भले ही क्यों न हो, किन्तु दोनों में कोई Qualitative भेद नहीं है। तब वह निर्मल है और अति गम्भीर है। यही है एकाग्र भूमि की प्रज्ञा। यहाँ रस-स्फुरण होता है, रससामान्य की गोद में एक विशिष्ट रसाभिव्यक्ति प्रकाशित होती है। इस अवस्था में वह खण्ड सौन्दर्य ही अपने आलोक में स्वयं प्रकाश पाता है। मान्ते भोक्ता एवं भोग्य स्व-संवेद्यमान सम्भोग के मध्य में एकाकार होकर स्थितिलाभ करते हैं। किन्तु इस अवस्था में चिरकाल स्थिति नहीं होती। भाव का आवेग कट जाने पर पूर्वावस्था वापस आ जाती है। योग के अनन्तर वियोग आता है, मिलन के अनन्तर, उसके अवसानोपरान्त विरह जागता है। किन्तु जिस कारण से यह योग भंग हो जाता है, वह कारण योगावस्था में भी अव्यक्तरूपेण विद्यमान रहता है। मिलन के क्रोड़ में विरह इसी प्रकार से ही छिप रहता है। 'दुहुं कोरे दुहुं कोदे विच्छेद भाविया'। इसे संस्कार कहें अथवा कुछ भी कहें, उससे कुछ आना-जाना नहीं है, किन्तु इस संस्कार के कट जाने पर यह योग अब भंग नहीं होता।

अतएव विशिष्ट रसस्फूर्ति की शुद्धावस्था भी कालातीत तथा कालावच्छिन्न भेद से द्विविध है। जिस उपाय से कालातिक्रमण किया जाता है, सदाकालीन स्थितिलाभ किया जाता है, उस उपाय के फलवान् होने पर यह विशिष्ट निर्मल रसास्वाद भी अबाधित रहेगा। किन्तु इन सब आलोचना का यह स्थान नहीं है। फिर भी रससामान्य कदापि रस विशेष का बाधक नहीं है; क्योंकि सामान्य कदापि विशेष के विरुद्ध नहीं है। विशेष भी सामान्य में अनुस्यूत है।

यहाँ एक बात की मीमांसा करना आवश्यक है। किसी न किसी का मत है कि रस में विशिष्टता आरोपित भेद है, स्वगत भेद नहीं है। रस एक ही है। केवल उपाधिरूपेण उसमें आगन्तुक भेद अवभासित होता है। मुझे प्रतीत होता है कि यह यथार्थ सिद्धान्त नहीं हो सकता। यह तो सत्य है कि रस एक है। उसमें सजातीय तथा विजातीय भेद होना तो दूर की बात है, स्वगत भेद तक नहीं है। तथापि रस बहुत है, यह भी सत्य है। विभाव-अनुभाव आदि की विचित्रता के कारण रस विचित्र है। किम्बहुना, यह लौकिक दृष्टि का अनुयायी है। किन्तु यहाँ भी विभाव आदि भी मूल रस के ही अंग हैं। जैसे घटाकार विरहित घट ज्ञान कल्पनीय नहीं है, अथच अखण्ड ज्ञान में वह निर्विषयक है। उसी प्रकार से विभाव आदि से रहित खण्ड रस भी कल्पनीय नहीं है। रस सामान्य में विभावादिका अवभास नहीं रहता। विक्षिप्त वृत्ति में भेद बोध परिस्फुट रहता है। वहाँ यह मानना होगा कि विभावादि पृथक् हैं। किन्तु जहाँ रसस्फूर्ति है, वहाँ भी विभावादि हैं। तथापि वहाँ वे अभिन्न भाव से रसाङ्गरूपेण भासमान हैं। यह है विशिष्ट रस। रस सामान्य में विभावादि का अवभास अवश्य नहीं रहता। किन्तु

विशिष्ट रस की अनुभूति न होने के कारण रस सामान्य में उपस्थित नहीं हुआ जा सकता। जब विशिष्ट रस का स्फुरण होता है, तभी रससामान्य भी अनुभूत होता है, अर्थात् उसका स्फुरण हो जाता है। रसस्फूर्ति में जो सामान्य अंश तथा विशेष अंश है, दोनों मिलित हैं। इसमें से विशेषांश का निरोध हो जाने पर सामान्यांश स्थित रह जाता है। जैसे सुवर्ण तथा कुण्डल। एक विशिष्ट आकार में आकारित सुवर्ण ही कुण्डल है। दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जब कुण्डल को देखता हूँ, तब सुवर्ण दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जब कुण्डल को देखता हूँ, तब सुवर्ण को भी देखता हूँ। इसी तरह से जब विशिष्ट रस का आस्वादन किया जाता है, तभी सामान्य रस का भी आस्वादन हो जाता है। सामान्य रस को ही विशेषता के कारण विशेष रस कहते हैं। यह विशेषांश न रहने पर (अर्थात् विलीन रहने पर) रस तो सामान्य रस ही है। वह है निर्विशेष-निराकार। जिस आकार विशिष्ट में निर्मित सुवर्ण को कुण्डल कहा जाता है, यदि वह आकार न रहे, तब तो वह सुवर्ण मात्र ही है। अत: सुवर्ण अब आकाररहित निराकार है। कुण्डलादि आभूषण रूप नहीं है।

यहाँ भी वैसा ही जानना होगा। सामान्य का आश्रय लेकर ही विशेष का स्फुरण होता है। आधार का आश्रय करने से ही आधेय स्फुरत्ता प्राप्त करता है। उपादान का आ...य लेकर ही कार्य का स्फुरण होता है। किन्तु विपरीत मत सत्य नहीं है; क्योंकि विषयविरहित सामान्य, आधेयहीन आधार, कार्यशून्य उपादान प्रतिभात हो सकता है। किम्बहुना, उस स्थल पर अपेक्षा-बुद्धि न रहने के कारण सामान्य आधार या उपादान के भाव में उनका ज्ञान नहीं होता। किन्तु वस्तु ज्ञान तो अवश्य हो जाता है। अब यह जानना है कि जिस विशेष के कारण एक ही रस नाना रस हो गया है, उस विशेष का स्वरूप क्या है ?

मान लीजिये, यही विशेष ही उपाधि है। इसके भेदानुसार रस-भेद ज्ञात होता है। वर्त्तमान अवस्था में अर्थात् जब हम विक्षिप्त वृत्तियों के अधीन रहते हैं, तब यह उपाधि बाह्य तथा अनित्य है। वास्तव में यह उपाधि बाह्य भी नहीं है, अनित्य भी नहीं है; क्योंकि रस नित्य ही अन्तरंग रूप से इस विशेष से लगा रहता है। अतएव रस ही नित्य नाना, स्वभावत: परस्पर विलक्षण, विशिष्ट है, इसे मानना ही होगा। अत: रस एक है। यह सर्वत्र अनुस्यूत है। यह बात जैसे सत्य है, उसी प्रकार रस भी अनन्त है। प्रत्येक रस ही विलक्षण तथा विशिष्ट है एवं यह विशेष स्वाभाविक है। किसी बाह्य कारणवशात् यह नहीं है यह भी सत्य है। जहाँ रस का आस्वादन है, वहाँ बाह्यत्व आगन्तुकत्व सम्भव ही नहीं है। बाह्यता तभी तक है, जब तक भेद है। जब तक रसोदय नहीं हुआ, तभी तक भेद की सत्ता है। रस की अभिव्यक्ति होते ही बाह्यत्व नहीं रह जाता।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि यह उपाधि अनित्य क्यों नहीं है ? उत्तर यह है कि जगत् की समस्त वस्तु उपाधि स्वरूप है। जिस दृष्टिकोण से कोई वस्तु ही अनित्य-

असत् नहीं है, उसी दृष्टिकोण से इस प्रश्न का समाधान स्वत: हो जाता है। असत् का क्या तात्पर्य है ? यही तात्पर्य है कि जो रूप एक बार दृष्टिगोचर होता है, अभिव्यक्त होता है, ठीक वही रूप और देखा नहीं जा सकता। प्रति निमेष में इस प्रकार का परिवर्तन होता रहता है। किन्तु इसका तात्पर्य क्या है ? एक के पश्चात् एक—इस प्रकार से रूप-परम्परा अभिव्यक्त हो रही है। अथवा जिसके द्वारा देखा जाता है, वह चित्त क्रमश: भिन्न-भिन्न दृष्टि में परिणत होता जा रहा है। जैसे वृत्ति के बिना रूपाभिव्यक्ति केवल बात ही बात है, रूप न होने पर शुद्ध वृत्ति भी उसी प्रकार है। (अर्थात् वह भी बात ही बात है) वास्तविक बात तो यह है कि यह विशिष्ट वृत्ति तथा विशिष्ट रूप दोनों मिले-जुले हैं। इनका ही स्रोत चल रहा है। यही काल स्रोत है। विक्षिप्त अवस्था में हूँ, इसीलिये स्रोत को रोक नहीं पा रहा हूँ। किन्तु किसी उपाय से इस प्रवहमान स्रोत को प्रतिबद्ध कर सकने पर स्थैर्य आयेगा। अतएव एकाग्र अवस्था में जिस रूप का प्रतिभास होता है, वह चंचल अथवा परिवर्तनशील नहीं है। जब तक चित्त की अवस्था एकाग्र होगी, तब तक इस वृत्ति के समक्ष रूप भी अचंचलभाव से प्रकाशमान रहेगा।

यदि यह एकाग्र अवस्था इच्छानुरूप स्थायी हो जाये, यदि मलिन प्रकृति के ऊर्ध्व में जा सके, तब रूप का प्रकाश काल स्वायत्त हो जाता है। जैसे एक गुलाब फूल का अवलम्बन लेकर यदि मेरी प्रज्ञा का उदय होता है और यदि यह एकाग्र समाधि सहस्र वर्षों तक मग्न न हो, तब इन सहस्र वत्सर तक इस गुलाब का प्रकाश रहेगा। विक्षिप्त चित्त में जगत् का शत-लक्ष परिवर्तन संघटित होने पर भी स्थिर चित्त में यह एकमात्र रूप ही प्रकाशित रहेगा। यह समाधि अवश्य भंग हो सकती है, किन्तु उसका हेतु यह है कि मग्न होने का कारण चित्त है। जब वह कारण नहीं रहेगा, अर्थात् जब रज: तथा तम: कट जायेगा, जब सत्व विशुद्ध होगा, तब यह समाधि सदाकालीन होगी अथवा इच्छानुसार जब तक चाहें, तब तक स्थितिशील हो जायेगी। जगत् के समस्त रूप एक-एक प्रकाश हैं। महाप्रकाश के विशिष्ट विलास हैं। आज यदि समाधि भंग हो जाने से, किंवा अपनी इच्छा से उस रूप का तिरोधान हो जाता है, तब उसे पुन: उद्भासित किया जा सकता है; क्योंकि तिरोहित होने पर भी वह कभी भी महाप्रकाश के पास से तिरोहित नहीं हो सकती। वह केवल वृत्तिज्ञान के समक्ष अव्यक्त हो जाती है। यदि वह सत्य है, तब सभी रूप ही नित्य है, वस्तु मात्र ही सर्वदा सत्य है और जिस अवस्था में वह रूप इच्छानुसार प्रकाशित रहता है, तब वह बाह्य नहीं है। वह प्रकाश का ही अंगरूप है, अर्थात् अनन्यरूपेण अवस्थित है।

जब उपाधि नित्य अन्तरंगभावेन प्रकाशमान है, तब अनन्त विशिष्ट रस भी परमार्थत: नित्य है। अभिव्यक्त भाव से है, यह स्वीकार्य है। रस मात्र ही नित्यसिद्ध है। कदापि साध्य नहीं है। तब वृत्ति के अधीन होने के कारण हम उसे अव्यक्त कहते हैं। (क्योंकि तब वह वृत्ति के अन्तर्गत अव्यक्त रहता है)। अभिव्यंजक सामग्री आवरण-

अपसारण करके नित्यसिद्ध रस का ही उद्‌बोधन करती है। उद्‌बोधन में अभिव्यञ्जक भी रसान्तर्गत हो जाता है। अतएव यह मानना ही होगा कि विशिष्ट रस प्रकार में तथा संख्या में सर्वदा ही अनन्त है। अनन्त होने पर भी इसकी द्विविध स्थिति है। कभी यह रस सामान्य विशेष अन्तर्लीन भाव से शक्तिरूप में एकाकार रहता है, कभी परिस्फुट रहता है।

प्रथम शंका का समाधान इस प्रकार से किया गया है। जो यह मानते हैं कि रसमात्र ही विशेषात्मक है, सामान्य रस हो ही नहीं सकता, उनका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। यदि सामान्य नहीं है, तब विशेष भी नहीं रह सकता, यह पहले कहा जा चुका है। जब विशेषावस्था में आस्वादन है, तब सामान्यावस्था को रस कैसे नहीं कहा जायेगा ? तब भी उस रस की धारणा हमारे लिये कठिन है। अब तक की आलोचना से यह स्पष्ट हो गया कि रस एक है, तथापि उसमें अनन्त वैचित्र्य की शक्ति है और यह शक्ति कभी-कभी प्रस्फुटित होती है, जिसके बल से रस अपनी वैचित्र्यशक्ति को प्रस्फुटित करता है, अथवा प्रस्फुट वैचित्र्य को अन्तर्लीन कर देता है। यह शक्ति है उसकी स्वातंत्र्यशक्ति। यह शक्ति अथवा उपाधि ही रस की देह है। चाहे यह सूक्ष्मरूपेण रस में अन्तर्लीन रहे अथवा स्थूलभावेन विकसित हो, यह सदा ही है। इस देह के साथ (स्वातंत्र्य के साथ) रस का अभेद सम्बन्ध है। जैसे जगत् में देही तथा देह भिन्न हैं, वैसा यहाँ नहीं होगा।

यह तो हो गई शुद्धावस्था की बात। हमारे इन्द्रियगोचर जगत् में भी इसी के अनुरूप व्यवस्था है। यह जो अनन्त वैचित्र्य हम देखते हैं, इनमें प्रत्येक का अर्थ है। एक-एक मुख का जो भाव है, केवल मुख का ही भाव क्यों, एक-एक मनुष्य का, एक-एक पशु-पक्षी का, एक-एक वृक्ष लता का, पुष्पादि का भाव है, वह रस का विशेष विकास अथवा भाव का विशेष विकास है, अर्थात् स्थूलभाव का प्रकाश है। तब भी यह अमिश्र नहीं है, यही कहना है। किसी मनुष्य का चेहरा जैसा है, नहाकर अन्य प्रकार का क्यों नहीं है ? हो ही नहीं सकता, यही है इसका उत्तर। जब प्रत्येक मनुष्य ही भाव का विकास है, तब भाव की विशिष्टता के अनुरूप आकृति का वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। आकृति तो भाव की ही देह है। अत: वह भाव के साथ अभिन्न है। चरम परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि एक देह में एक विशिष्ट भाव का ही विकास होता है, अन्य भाव का नहीं होता। जितने भाव, उतनी देह। एक ही देह का अवलम्बन लेकर बहुभाव प्रकाशित नहीं हो सकते। फिर भी एक ही देह से अनेक विलास हो सकते हैं। एक प्रकार से इससे भी भाव-वैचित्र्य ही सम्पन्न होता है।

इसके अनन्तर एक और तथ्य को याद रखना होगा। प्रत्येक जीव का एक अपना रूप रहता है। समस्त कल्पनाओं का उपशम हो जाने पर भी यह रहता है। यह अन्य का रूप नहीं है, केवल उसी जीव का अपना रूप है। इसके भी अतिरिक्त एक और रूप है। यह रूप सम भाव से समस्त जीवों का तथा ईश्वर का भी है। इसी

दृष्टिकोणानुसार समस्त जीव ईश्वर से अभिन्न हैं। प्रथम है उसका विशेष (Individual) रूप, द्वितीय है सामान्य (Universal) रूप। अर्थात् निर्विशेषत: देखने पर समस्त जीव एक ही जीव हैं तथा जीव एवं भगवान् अभिन्न हैं। सविशेष भाव से देखने पर प्रत्येक जीव में भिन्नता है और जीव एवं भगवान् भी परस्परत: भिन्न हैं। अतएव जीव में और ईश्वर में तथा जीव एवं ईश्वर में यह भेदाभेद नित्य ही है। जब भेद अनन्त है और अभेद जब एक है, तथा जब दोनों ही नित्य हैं, तब यह स्वीकार करना ही होगा कि भेद से अभेद की ओर किंवा भेद की ओर की दृष्टि अथवा भाव भी अनन्त प्रकार के हैं। अर्थात् एक जीव भगवान् अथवा जगत् को जिस दृष्टि से देखता है, जिस भाव का संवेदन करता है, अन्य जीव ठीक उसी प्रकार से नहीं देख सकता। प्रत्येक जीव की दृष्टि का केन्द्र स्वाभाविक भेद विशिष्ट है। अतएव भगवान् के साथ अथवा उसके अंश जीव के साथ प्रत्येक जीव का एक विशिष्ट भावमय सम्बन्ध है।

इस पारस्परिक सम्बन्ध का आविष्कार ही रस-साधना का प्रथम सोपान है। सौन्दर्य तत्त्व की साधना तभी यथार्थ सिद्धिलाभ करती है, यह कहा जा सकता है, (जब पूर्वोक्त प्रकार से रस-साक्षात्कार हो)। जीव है शुद्ध चित् शक्ति। तटस्थ होने पर भी वह वैशिष्ट्य सम्पन्न एवं दर्पणवत् स्वच्छ है। उसके ऊपर अनन्त प्रकार के सौन्दर्य का छायापात होने के कारण अनन्त प्रकार के विशिष्ट रस का आस्वादन होता है। यही है वह अनन्त रस। यह अनन्त प्रकार का है, क्योंकि जीव संख्या अनन्त है। प्रत्येक दृष्टि-केन्द्र से सौन्दर्य का आभास अनन्त है। दृष्टि-केन्द्र अनन्त होने के कारण प्रत्येक का आभास भी अनन्त है।

यह जो जीव के सामान्य तथा विशेष रूप की बात कही गयी है, इसमें से एक को छोड़कर दूसरा रह ही नहीं सकता। जहाँ विशेष अभिव्यक्ति है, वहाँ भी अव्यक्त भावेन सामान्य रूप ही रहता है। सामान्य रूप की अभिव्यक्ति के काल में भी अपरिस्फुट रूप से विशेष भाव रह जाता है। अतएव भेद जिस प्रकार से अभेद जड़ित है, उसी प्रकार अभेद को भेद से जाने। दोनों का यह नित्य सम्बन्ध है। भेदावस्था में भी अभेद है। लेकिन भेदावस्था से अभिभूत रहने के कारण, 'वह है' यह अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अभेदावस्था मे भी भेद की इस प्रकार की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा। वास्तव में इनका साम्यभाव नहीं है। साम्य भाव तो जीवभाव नहीं है, ईश्वरीभाव भी नहीं है। भेद अथवा अनेक नहीं है। अभेद अथवा एक नहीं है। साम्यभाव तो समकाल में भेद तथा अभेद, समरूपेण दोनों ही है, अथच दोनों से अतीत है। जालन्धरनाथ की एक उक्ति स्मरण आती है:—

द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत इत परं योगिना शङ्करं वा।

अर्थात् परमार्थ तत्त्व द्वैत भी है, अद्वैत भी है। इन दोनों से अतीत भी है। पूर्ण स्फूर्ति की स्वरूपावलोचना के प्रसंग में यह बात याद रखना होगा। इस साम्यभाव में स्थित हुए बिना रसानुभूति पूर्ण नहीं हो पाती। यहाँ खड़े होने पर सब सुन्दर परिलक्षित

होता है, सब अच्छा लगता है, सबके प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति होने लगती है, क्योंकि सभी तो मेरे ही रूप हैं। इस अवस्था में उसे 'मैं' कहा जाये, किंवा 'तुम' कहा जाये— इससे कोई क्षति नहीं हो सकती। 'मैं' तथा 'तुम' दोनों शब्द ही इस अवस्था में एक ही वस्तु के वाचक रहते हैं। औपनिषदगण उसे आत्माराम स्थिति कहते हैं। भक्तगण उसे पराशक्ति पुकारते हैं। स्वरूपत: दोनों में कोई भेद है ही नहीं। प्रह्लाद कहते हैं—

नमस्तुभ्यं नमो मह्यं तुभ्यं मह्यं नमो नमः।

प्रथमतः 'तुम' कहकर तुमको नमस्कार करता हूँ, तदनन्तर प्रत्यगात्मभाव के स्फुरण की ओर लक्ष्य करके कहते हैं 'मुझे नमस्कार'। बाद में परिलक्षित होने लगा कि जो 'तुम' है वही है 'मैं'। अतएव 'तुम' तथा 'मैं' को एकत्र जड़ित करके कहा गया है। जहाँ 'तुम' और 'मैं' का साम्य उपलब्ध होता है, वहाँ 'तुम' कहने से 'मैं' ही ध्वनित होता है। 'मैं' कहने से 'तुम' का तात्पर्य गृहीत होता है। एक ही पदार्थ का नाम है। 'तुम' तथा 'मैं'।

सूफी सिद्ध हल्लाज कहते हैं—

I am He whom I love. He whom I love is I,
We are two spirits dwelling in one body.

यह है वही उपनिषद्-सूक्त-एक वृक्ष पर समासीन दो पक्षियों की कथा। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया **समानं** वृक्षं परिषष्वजातें'। पक्षान्तर से 'जिलि' कहते हैं—

'We are the spirit of one, though we dwell by burns in two bodies'.

जलालुद्दीन रूमी भी प्रकारान्तर से इसी भाव का प्रकाशन करते हैं—

Happy the moment when we are seated Thou and I;
With two forms and with two figures, but with one soul,
Thou and I.

जीव तथा ईश्वर के भेदाभेद सम्बन्ध में इसकी अपेक्षा स्पष्टतर निर्देश और क्या हो सकता है ?

जिसने भी इस भाव में आरोहण किया है, वह अपने रूप पर स्वयं विभोर है। एक भक्त पूर्ण सौन्दर्य के अनन्त समुद्र में डुबकी लगाकर, बाद में इस अवस्था की स्मृति को गा रहे हैं—

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ, पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम्।
अवाक् च निःस्पन्दतमो विमूढः कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव ।।

यहाँ पर तुम भाव का आश्रय लेकर भक्त का हृदय उच्छ्वासित हो उठा है। किसी में पुनः 'मैं' भाव ही प्रधानतः खिल उठता है।

सामान्य मनुष्य के जीवन में भी ऐसा शुभ मुहूर्त्त कभी-कभी आता है, जब वह अपने खण्ड 'मैं' अथवा परिच्छिन्न अहं का अतिक्रमण करके पूर्णाहन्ता का आभास कियदंश में प्राप्त करता है। तब जगत् की सर्ववस्तु की ओर, यहाँ तक कि अपने रूप की ओर वह विस्मयविमुग्ध दृष्टि से देखने लगता है। तब उसके नेत्रों के समक्ष सब कुछ मानो एक अपूर्व सुषमा से मण्डित प्रतीत होने लगता है। तब है 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः'। तब सभी 'तुम' है। 'मैं' तथा समस्त जगत् सकल पदार्थ ही मधुमय प्रतीत होने लगते हैं। तब प्रतीत होता है कि सुख-दुःख आनन्द से सराबोर हैं, निन्दा-स्तुति दोनों ही माधुर्यपूर्ण हैं, अच्छा-बुरा सब एक ही है। तब अन्दर-बाहर एक एकतान मधुर स्रोत बहता रहता है। एक असीम अनन्त माधुर्य सागर अपने उज्ज्वल प्रकाश से अपने आप में ही मानो प्रकाशमान हो गया है। कभी उसमें तरंग रहती है, कभी नहीं रहती। अथवा समकाल में ही तरंग अथवा स्थैर्य, दोनों रहता है। तथापि माधुरी का ह्रास नहीं होता। यही है पूर्ण रसबोधावस्था। यहाँ मिलन तथा विरह—दोनों में आनन्द है। हँसने में मधु, रोने में भी मधु !

जो 'मैं' वही 'तुम' और जो है 'तुम' वही है जगत्। अतः जिसे आत्म प्रेम कहते हैं, वही दूसरे प्रकार से भगवत् प्रेम है। इसी प्रकार भगवत् प्रेम के ऊपर दिक् में जीव तथा जगत् के प्रति शुभेच्छा। मूल वस्तु एक एवं अद्वितीय है। एक ही पुरुष उत्तम, मध्यम, प्रथम भेद से कल्पित है। पूर्णरस का उद्बोधन होने पर इसी एक तथा अखण्ड प्रेम का विकास हो जाता है। भेददृष्टि से जीव, जगत् तथा भगवान् बोध का विकास हो जाता है। भेददृष्टि से जीव, जगत् तथा भगवान् में स्वरूपगत पारस्परिक वैलक्षण्य भी तो हैं। पूर्ण रसास्वादन के समय वह भी अवश्य प्रकट होगा। अन्यथा आस्वादन की पूर्णता सिद्ध नहीं होगी।

इसलिये यह स्वीकार करना ही होगा कि प्रत्येक जीव रसानुभूतिकाल में ऐसी एक अवस्था में प्रतिष्ठित होता है, जहाँ वह जिस आनन्द का आस्वाद करता है, ऊपर का जीव भी रसानुभूति के समय उसी आनन्द का रसानुभव करता है; क्योंकि जब पहले वाला जीव 'पूर्ण अहं' है, तब ऊपर जीव भी वही है। (जब रसानुभूति कर रहा है।) इसलिये अब आस्वादन कर्त्ता में भेद कहाँ ? वह भी वास्तव में एक ही है। यह आनन्द है नित्यसिद्ध ब्रह्मानन्द। लेकिन मात्र इतना कहना उचित नहीं है। जब प्रत्येक जीव का स्वभाव विलक्षण है, तब एक ही जीव जिस विशिष्ट आनन्द का आस्वादन करता है, उस समय अन्य कोई जीव उसी आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकता। यह तो मानना ही होगा। इस आस्वादन का प्रकार अनन्त है, सम्भावनीयता अपरिमित है। अतः कालातीत ऐक्य अथवा ब्रह्मानन्द प्राप्त करके भी प्रत्येक जीव की आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना कभी न्यून नहीं होती। एक स्थिर आनन्द के वक्ष में नित्यनूतन अपरूप आनन्द स्फुरित हो जाता है। ब्रह्मानन्द के समुद्र के वक्ष पर यही तो नित्यलीला की लहरमाला है। इस विशिष्ट आनन्द की दृष्टि से ही भगवान् के साथ जीव का गुप्त सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध का आविष्कार करके विशिष्ट रस का आस्वादन ही रस-साधना की सार्थकता है। इसी कारण रसज्ञ सामाजिक गण निर्विशेष सामान्यात्मक ब्रह्मानन्द लाभ को रसचर्या का चरमफल नहीं मानते। स्वायम्भुव आगम मे हैं—

ब्रह्मानन्दरसादनन्तगुणितो रम्यो रसो वैष्णवः।
तस्मात् कोटिगुणोज्ज्वलश्च मधुरः श्रीगोकुलेन्दो रसः।।

ब्रह्मानन्द में वह माधुर्य नहीं है। यहाँ तक कि वैकुण्ठाधिपति परमात्मानन्द स्वरूप रस में भी शान्त एवं दास्य की ऊर्ध्वगति नहीं है। अतएव वहाँ माधुर्य की सम्भावना नहीं है। माधुर्य में एकमात्र भगवदानन्द रस ही है। सख्य तथा वात्सल्य का अतिक्रम करके उज्ज्वल रस में माधुर्य की पराकाष्ठा है। अतएव सविशेष भगवद्‌भाव में आरूढ़ न होने पर पूर्णभाव में रस का आस्वादन नहीं हो सकता।

प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रस के साथ यह वार्त्तालाप कर सकता है:—'तुम मेरे ही हो-केवल मेरे'। यह बात सत्य है। साथ ही यह भी सत्य है कि सामान्य सभी व्यक्ति का समान धन है। यह किसी एक का निजस्व नहीं है। श्रीकृष्ण राधावल्लभ हैं—यह जैसे सत्य है, वे गोपीमात्र के भी वल्लभ हैं, यह भी उतना ही सत्य है। तब भी इसके मध्य एक रहस्य है। जिस गुप्त स्वधाम में श्रीकृष्ण केवल एक के हैं, जब तक ठीक उसी स्थान तक गति न मिले-तब तक यह तो कह सकते हैं कि 'तुम मेरे हो,' परन्तु यह नहीं कह सकते कि 'तुम केवल मेरे हो'। इस स्वभाव का नाम ही है राधाभाव। जो गोपी उस महाभावमय स्वभाव में प्रतिष्ठित है, वही है राधा।

मैंने पूर्ण रसास्वाद का एक दिग्दर्शन किया है। अभिनव गुप्त ने रस के जिस स्वरूप का प्रदर्शन किया है, उसमें रसतत्त्व का मूलसूत्र आविष्कृत हुआ है। रस है नित्यवस्तु। आस्वाद्यमान न होने पर जब रसपद की सार्थकता नहीं है, तब वह नित्य ही आस्वाद्यमान है। कभी भी अनास्वाद्यमान नहीं है। किन्तु आस्वादन कौन करता है ? जहाँ भोग्य नित्य है, भोग भी नित्य है, जहाँ भोक्ता भी नित्य है, वहाँ सहज में ही समझ में आ जाता है। यह भोक्ता 'खण्ड मैं' नहीं है। खण्ड 'मैं' देश तथा काल से परिच्छिन्न है, मलिन सत्व में उपस्थित है, वह 'मैं' यहाँ नहीं है। जो देह-सम्बन्ध के कारण (देहात्मबोध के कारण) मृत्यु तथा सुख-दुःख के अधीन है, वह 'मैं' नहीं है। जो 'मैं' प्राकृतिक नियमों की जंजीर में जकड़ा है, अनादि कर्म संस्कार का वशवर्त्ती है—वह 'मैं' नहीं है। किन्तु पूर्ण, अपरिच्छिन्न, निर्मल तथा नित्य 'मैं' वह है। यही 'पूर्ण मैं' देश-काल से अतीत, प्राकृतिक देह विरहित, जागतिक नियमों के ऊर्ध्व में नित्य स्वाधीनभावेन विद्यमान है।

इसका जन्म-मरण नहीं है। सुख-दुःख, वासना-कामना भी वहाँ नहीं है। यह 'पूर्ण मैं' रस का आस्वादयिता-भोक्ता है। किन्तु भोक्ता-भोग्य-भोग वास्तव में एक ही पदार्थ हैं। रसस्फूर्त्ति के समय उनमें पृथगवभास नहीं रहता। यह पृथगवभास रहने पर रसस्फुरण ही नहीं होगा, कहा है—

भोक्तैव भोग्यरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः ।

तब जिस 'भोक्ता-भोग्य-भोग' पद प्रयोग को किया जाता है, वह केवल अलौकिक त्रिपुटी के कारण पदार्थ त्रय रूप अनेक होने पर भी एकात्मक हैं। इसलिये अभिनवगुप्ताचार्य का सार सिद्धान्त यह है कि पूर्ण 'मैं' ही नित्य स्वयं का स्वयं ही आस्वादन कर रहा है। यह आस्वादन अथवा चर्वण शुष्क ज्ञान मात्र (Cognition) नहीं है। जैसे सांख्य का पुरुष अपनी प्रकृति का निर्लिप्त तथा उदासीन दृष्टि से पृथक् भाव से साक्षीरूपेण दूर से ही अवलोकन मात्र करता है (प्रकृतिं पश्यति पुरुषः स्वस्थः प्रेक्षक वदुदासीनः), ऐसा नहीं। यह भावमय अनुभूति (Feeling) है। रस जब भाव की गाढ़ तथा अभिव्यक्त अवस्था मात्र है, तब वह शुष्क ज्ञान मात्र नहीं है। अर्थात् रसतत्त्व आनन्दात्मक है। केवल चिदात्मक नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्योक्त कैवल्य कदापि रसपदवाच्य नहीं है। पुरुष है चित् स्वरूप। यह स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है। यह आनन्दावस्था नहीं है। इसी कारण वेदान्तिक तथा वैष्णव आचार्य इस अवस्था को परमपुरुषार्थ नहीं मानते। यहाँ भी वास्तव में आवरण की सत्ता है। जब यह आवरण अपगत होता है, जब चित् तत्त्व अबाधित होता है, तभी आनन्द का प्रकाश होगा; क्योंकि अबाधित आत्मविश्रान्त चैतन्य ही आनन्द है। इसी कारण आचार्य इस रसानुभूति को सविकल्पक तथा निर्विकल्पक रूप दो विरुद्ध कोटि से पृथक् मानते हैं; क्योंकि सविकल्पादि भेद ज्ञानगत है। भावगत नहीं है।

रस ही आनन्द है। रस ही प्रेम है। यह भगवान् की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति का सारांश है। इसी कारण वैष्णावाचार्यगण प्रेम की व्याख्या 'आनन्द चिन्मयरस' रूप से करते हैं। प्रेम का जो आलम्बन है, वह इस प्रेम से नित्य संलग्न रहता है। रस के स्फूर्त्तिकाल में अलौकिक त्रिपुटी के सम्बन्ध में पहले जो कहा गया है, उससे यह स्पष्ट समझ में आयेगा। आलम्बन भी आश्रय तथा विषय रूप भेद से द्विविध है। यहाँ पर आश्रयालम्बन किंवा भोक्ता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है, किन्तु प्रेम का विषयालम्बन ही सौन्दर्य है। अर्थात् जो अच्छा लगे अथवा जिसे चाहा जाये, वही सौन्दर्य है तथा अच्छा लगना ही प्रेम है। अतः मूलतः प्रेम तथा सौन्दर्य अभिन्न हैं, तथापि रस स्फुरण के दृष्टिकोण से दोनों नित्य सम्बद्ध हैं।

हम साधारण अवस्था में भी इस तत्त्व का एक परिचय प्राप्त करते हैं। कवि कहते हैं—

भावेर अञ्जन माखि जे दिके पालटि आंखि,
नेहारि जगत् एई असीम सुन्दर ।

अर्थात् हृदय में चाहत रहने तथा चक्षु के उसी राग में रंजित होने पर सर्वत्र ही सौन्दर्य का दर्शन होने लगता है। उसे अन्वेषण करके नहीं देखना पड़ता। प्रेम ही सौन्दर्य का प्रकाश करता है। जिसे जो चाहता है, उसे वह कभी भी असुन्दर नहीं मान सकता। तभी स्नेहमयी जननी को अपनी सन्तान कमलनयन-जैसी सुन्दर लगती हैं।

और जहाँ सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है, वहाँ उसके प्रति लगाव अपने आप ही जाग जाता है। दोनों पक्ष ही बीजांकुर न्याय से परस्परतः जड़ित हैं। जब रसानुभूति भोक्ता के दिक् से प्रस्फुटित होती है, तब प्रथम पक्ष सार्थक है। जब रसानुभूति भोग्य की ओर से जागती है, तब द्वितीय पक्ष की सार्थकता परिलक्षित होती है। यह अनुभूति किसे किस दिक् से कब जागेगी, इसे कहा ही नहीं जा सकता। वास्तव में दोनों पक्ष ही समान रूप से सत्य हैं। अर्थात् प्रेम तथा सौन्दर्य का परस्पर रसव्यञ्जक सम्बन्ध है। कौन पहले है, कौन बाद में है, इस प्रश्न का उत्तर ही नहीं है। अब मैं इन दोनों दिक् की कथा की कुछ आलोचना करूँगा। सभी देश में तथा सर्वकाल में प्राज्ञगण ने इस तत्त्व को स्वीकार किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में कहा गया हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि॥

इस श्लोक में कालिदास ने इसी तत्त्व की ओर इंगित किया है। रूप-रस-गन्ध प्रभृति की रमणीयता से सौन्दर्य प्रकट होता है। कवि कहते हैं कि इस सौन्दर्यदर्शन से चित्त में प्रिय अथवा सौहृद की स्मृति जाग जाती है। यद्यपि भले ही यह स्मृति अस्पष्ट हो, भले ही वह अबुद्धिपूर्वक हो, तथापि वह प्रिय की स्मृति ही है। किन्तु जिसका अनुभव ही नहीं है, उसका तो स्मरण किया ही नहीं जा सकता। अतएव मानना होगा कि हम सौन्दर्य को ही चाहते हैं। अन्यथा सौन्दर्य दृष्टि में प्रियता की स्मृति न जागती।

सौन्दर्य-सुन्दर, प्रेम-प्रेमिक एक ही बात है। धर्म तथा धर्मी में स्वरूपगत भेद नहीं है। जो ज्ञाता है-वही ज्ञान है। जो आनन्दमय है-वही आनन्द है। जो चेतन है—वही चैतन्य है। इतने पर भी ज्ञानांश में बहुत्व का आरोप हो जाता है। ज्ञाता एक ही है। उपाधि भेद से सौन्दर्य भी अनन्त होकर भी एक ही है, उसी प्रकार से उपाधि भेद से प्रेम अनन्त होकर भी प्रेमी एक ही है। यही सत्य है। प्रेमी है 'मैं', सुन्दर है 'तुम'। जगत् का सभी सौन्दर्य जब एक सौन्दर्य है, जब एकमात्र अद्वितीय सुन्दर 'तुम' ही हो। जब सब प्रेम मूल में एक प्रेम ही है, तब एकमात्र अद्वितीय प्रेमिक है 'मैं'। तुम्हारा अनन्त सौन्दर्य, मेरा अनन्त प्रेम, प्रकार में अनन्त, काल में अनन्त, देश में अनन्त, वैचित्र्य में अनन्त। यही है 'तुम' की, तुम्हारी नित्यलीला। यह अवश्य है कि इस लीला की स्फूर्त्ति तभी सम्भव है, जब 'तुम' तथा 'मैं' स्वरूप में सजग रहें।

इस सम्बन्ध में चैतन्यचरितामृत (मध्य लीला, अष्टम परिच्छेद) का कथन है—

नाना भक्ते रसामृत नाना विधि हय,
सेइ सब रसामृतेर विषय आश्रय।

अतः वास्तव में भक्त-भगवान् अभिन्न हैं, लीलारस-आस्वादनार्थ इस अभेद में

रूपभेद जाग उठता है। अत: लीला अनन्त है। धाम अनन्त हैं, आस्वादन अनन्त है। इसीलिये पूर्ण सौन्दर्य चिरपुरातन होकर भी प्रतिक्षण रसिक के निकट 'नितनूतन' प्रतिभात होता है। कहा है—

'जनम अवधि हम रूप नेहारनु, नयन न तिरपित भेल'।

देख-देखकर भी देखने की आकांक्षा विनिवृत्त नहीं होती। प्रेम तथा सौन्दर्य की उपमा जल पिपासा तथा जल से दी जा सकती है। सौन्दर्य के बिना प्रेम का कोई अवलम्बन ही नहीं है। जैसे—श्रद्धा तथा निष्ठा का एकमात्र विषय सत्य है, ज्ञान का एकमात्र विषय जिस प्रकार से मंगल अथवा नि:श्रेयस है, उसी प्रकार प्रेम का एकमात्र विषय है सौन्दर्य अथवा प्रेय:। यदि जगत् में जल न होता, तब पिपासा भी न रहती। क्योंकि जल तथा पिपासा परस्परत: सापेक्ष हैं। इसी कारण पिपासा की सत्ता ही जल की सत्ता को प्रमाणित करती है।

वास्तव में पिपासा जल के अभाव को सूचित करती है। अथवा जल की सत्ता को सूचित करती है। यह आलोचना का विषय है। पिपासा है विरह। वह एक ओर जैसे मिलन की अस्पष्ट स्मृति की उद्दीपक है, दूसरी ओर वह मिलन की संघटक भी है। पिपासा शब्द का अर्थ क्या है ? (क) 'मैं जल चाहता हूँ' इसमें जो बोध है उसमें जल क्या है, वह हमारे स्मृति पथ में उदित हो जाता है। इसी प्रकार से स्मरण आ जाने पर इसी बोध से जल का आविर्भाव हो सकता है। यही है सृष्टि-रहस्य। (इसीलिये आगमिक गण स्मृति की सर्वसिद्धिप्रदानसमर्थ चिन्तामणि के साथ तुलना करते हैं। मन्त्रादि की प्राणस्वरूप वर्णना करते है)। एक प्रकार से स्पष्टता तथा अस्पष्टता के अतिरिक्त अनुभव तथा स्मृति के मूल में कोई भेद नहीं है। स्मृति वास्तव में है अस्पष्ट अनुभव और अनुभव है स्पष्टीकृत स्मृति। दोनों में कालगत भेद के बिना और कोई विशेष भेद नहीं रह पाता। अतीत आवरण हटाने पर ही वर्तमान है। वर्तमान में आरोप होने से वही है अतीत। कालिकभेद कल्पना प्रसूत है। किसी वस्तु के बारे में तीव्र इच्छा, व्याकुल आकांक्षा जागने पर ही वह वस्तु सृष्ट अथवा अभिव्यक्त होती है। स्मृति का सहारा लिये बिना इच्छा का उदय सम्भव ही नहीं है। इच्छा का उदय होने पर प्राप्ति अवश्यम्भावी है। शीघ्रता से अथवा विलम्ब से, यहाँ अथवा देशान्तर में प्राप्ति घटित होना इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करता है। उत्कट इच्छा होने पर देशकाल का कोई नियम नहीं रहता। इच्छा के साथ-साथ उसकी पूर्णता सम्पादित हो जाती है। जहाँ इस प्रकार की तीव्र पिपासा है, वहाँ जल भी पिपासा से अपने-आप फूट पड़ता है। अत: वहाँ पिपासा जल की सत्तासूचक तथा सत्ता की आविष्कारक है।

(ख) पक्षान्तर से पिपासा शब्द से कण्ठशुद्धता प्रभृति बोध की अवसान कामना द्योतित होती है। यहाँ जल लाभ की आशा नहीं है; क्योंकि जल तो इच्छा का विषय नहीं है। जो चाहा गया है, उससे कण्ठ शुष्कता की निवृत्ति हो जाती है। यह बोध अस्पष्ट होने पर भी पिपासु को अवश्य ही है। शास्त्रीय भाषा में इसी का नाम है

दु:खनिवृत्ति अथवा शान्ति। इसी इच्छा के फल से जल के बिना भी पिपासा-निवृत्ति हो सकती है। यहाँ पर पिपासा जल के भाव तथा अभाव को सूचित नहीं करती।

हम जिसे अभाव कहते हैं, वह वास्तव में आंशिक आवरण मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से अभाव नामक कुछ भी नहीं है। जो अभाव का प्रतियोगी है, अभावज्ञान उसकी ही स्मृति में घटित होता है। इस स्मृति में भाव ही आलम्बन है। इसीलिये स्मृति की गाढ़ता में अर्थात् अभावबोध की तीव्रता से ही भावोदय होता है। यह है योगविज्ञान का एक गूढ़तत्त्व। आम के अभाव बोध में जब आम की स्मृति अलग से नहीं होती तथा आम की स्मृति में जब सूक्ष्मभाव आम ही आलम्बन है, तब कहना ही होगा कि आम के अभाव बोध के मूल में भी तो आम ही है। अत: तीव्रभाव से उस बोध का जन्म होने पर यह सूक्ष्म अथवा अव्यक्त आम स्थूलरूप से, व्यवहारिक भाव से अभिव्यक्त होगा। अत: आम के अभाव का अर्थ है आम सूक्ष्म सत्ता में हैं। वह ऐकान्तिक अभाव नहीं है। ऐकान्तिक अभाव प्रतियोगी-निरपेक्ष है। भाषा से उसका व्यपदेश सम्भव नहीं है। चिन्ता राज्य में भी उसका स्थान नहीं है। हम जिस अभाव शब्द का प्रयोग करते हैं, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वह भावरूपेण परिगणित होता है। किन्तु वह व्यवहार योग्य भाव नहीं हैं। हम अभाव को जो आंशिक आवरण कहते हैं, अब उसे समझा जा रहा है।

पिपासा के सम्बन्ध में जो कहा गया है, प्रेम के सम्बन्ध में वही कथानक प्रयोज्य है। इस आलोचना को मैं खण्ड 'मैं' अथवा परिच्छिन्न अहंकार के दृष्टिकोण से कर रहा हूँ। जो जिस प्रकार के प्रेम की आकांक्षा करता है, वह विशिष्ट सौन्दर्य को ही विषयरूपेण प्राप्त होने की कामना करता है। प्रेम तीव्र होने पर ही वह सौन्दर्य प्रकाशित होगा। अनन्त सौन्दर्य का भण्डार भी अनन्त है। चाह उत्पन्न होते ही अथवा जानते ही यह भण्डार खुल जाता है। इसीलिये नरोत्तमदास का मत है कि राजमार्ग की साधना का प्रधान विशेषत्व है, केवल आकांक्षा करना—

भावना करिबे जाहा सिद्ध देहे पाबे ताहा।

यह अत्यन्त सत्य है।

हमने पहले जो कहा था उसी से ही सौन्दर्य तथा काम के सम्बन्ध में समझा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार कामदेव तथा रति में प्राकृत सौन्दर्यकल्पना का चरम उत्कर्ष हुआ है, ग्रीक साहित्य में भी वैसा ही है। कादम्बरी में कुसुमायुध की वर्णना 'त्रिभुवनाद्भुतसम्भाररूपे' कहा गया है। केवल यही नहीं। काम को 'रूपैकपक्षपाती' एवं 'नवयौवनसुलभ' भी कहा गया है। Venus, Aphrodite, Adonis, Eros प्रभृति की रूपवर्णना की आलोचना करने से प्राचीन पाश्चात्य साहित्य में भी कामदेव की ही सौन्दर्यकल्पना का उत्कर्ष हुआ है, यह विश्वास हो जाता है। जो भी कारण हो, सौन्दर्य काम का उद्दीपक है, तथा काम सौन्दर्य का प्रकाशक है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विद्वान् Remy de Gourmond अपने ग्रन्थ 'Culture des Ideas' (सन् 1900 पृ. 103) में कहते हैं—

'That which inclines to love seems beautiful, that which seems beautiful inclines to love. This intimate union of art and love is indeed the only explanation of art..........Art is the accomplish of love.'

अन्यान्य वैज्ञानिक पण्डित भी इस विषय में अनेक गवेषणा कर गये हैं। पण्डित सान्तायन (G. Santayana) अपने ग्रन्थ 'The Sence of Beauty' में, विद्वान ग्रोस (Groos) अपने ग्रन्थ 'Der Aesthetische Genuss' में, कालिन स्काट अपने ग्रन्थ 'Sex and Art' नामक प्रबन्ध में (American Journal of Psychology सप्तमभाग, द्वितीय संख्या, पृष्ठ 206), विद्वान् स्ट्राज (Straz) ने अपनी पुस्तक 'Die Schonheit des Weiblichen Korpas' में इसकी सविशेष चर्चा की है। G. Santayana ने यौन आकर्षण (Sexual Attraction) को सौन्दर्य बोध का (Aesthelic-contemplation) अंग मानकर उल्लेख किया है। इनके मत से विशिष्ट (Specific) यौनभाव भी (Sexual emotion) सौन्दर्य बोध के अन्तर्गत है। विद्वान् ग्रोस (Groos) ने यह प्रतिपादित किया है कि यौनभाव तथा सौन्दर्य बोध का परस्परत: सम्बन्ध है। कामशास्त्र में भी इस विषय की आलोचना है। यह चिरप्रसिद्ध है कि कामतत्त्व का स्फुरण न होने पर चेहरे पर लावण्य नहीं खेलता।

वास्तव में प्रेम तथा काम में स्वरूपगत कोई प्रभेद नहीं है। एक ही रस में दोनों ही अभिहित हैं। प्राचीन काल में दोनों नामों को एक ही वस्तु का वाचक कहा जाता था। उक्त है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

श्रीकृष्ण का बीज मन्त्र है कामबीज। उनकी गायत्री है कामगायत्री। 'कामाद् गोप्य:' यह बात चिर प्रसिद्ध है। जगत् के आदि दम्पत्ति हैं कामेश्वर—कामेश्वरी। यह आगम शास्त्र का वचन है। आदिरस शृंगार कामात्मक है। यहाँ सभी स्थल पर कामशब्द का प्रेम ही से तात्पर्य है। सामान्य व्यवहार में काम तथा प्रेम में जो भेद लक्षित होता है, उसका अवलम्बन लेकर चैतन्यचरितामृत में काम को लौह तथा प्रेम को सुवर्ण कहा गया है। इसी भेद के कारण रस की शुद्धता तथा मलिनता परिलक्षित होती है। कविराज गोस्वामी कहते हैं कि आत्मेन्द्रिय प्रीति की इच्छा है काम। कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा है प्रेम। किम्बहुना, इससे भी वही तत्त्व प्रकटित है।

संक्षेप में यह कहना है कि यह भेद प्राचीन आचार्य भी जानते थे। गौड़ीय वैष्णवों ने स्पष्टाक्षर में कहा है कि श्रीकृष्ण ही अप्राकृत मदन हैं। कामदेव प्राकृत मदन हैं। मदन किन्तु एक ही है। प्रकृति के ऊर्ध्व में अर्थात् रज: तथा तम: से सम्पर्क रहित होने पर यह मदन ही श्रीकृष्ण हैं। यह हैं, कोटिकन्दर्पलावण्य, साक्षान्मन्मथमन्मथ। ये ही हैं आगम की ललिता अथवा सुन्दरी है। महायोगी किंवा महाज्ञानी भी इस विश्वविमोहिनी महाशक्ति के कटाक्षपात से विचलित हो जाते हैं। कामदेव इनके ही कणमात्र सौन्दर्य को पाकर त्रिभुवन को उद्भ्रान्त कर रहे हैं। सौन्दर्यलहरीकार कहते हैं—

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥

सौन्दर्य एक ही है। अप्राकृत भाव से श्रीकृष्ण, प्राकृतभाव से कामदेव। अप्राकृत सौन्दर्य तथा अप्राकृत काम की समास स्थिति है शुभ शृंगार, प्रकृत सौन्दर्य तथा प्राकृत काम की साम्यावस्था है मलिन शृंगार। अतएव काम और सौन्दर्य रसस्फूर्तिकाल में नित्यमिलित भाव से प्रकाशमान होते हैं।

एक महासौन्दर्य ही अनन्त कला, अनन्त खण्ड सौन्दर्य रूप से नित्य प्रकाशमान रहता है। यही सकल शुद्ध, कालातीत है। यही कालशक्ति का आश्रय लेकर मलिन तथा नश्वर भाव से प्रकाशित होता है। कहा है—

अव्यहताः कलास्तस्तस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादिषड् विकारात्मभावभेदस्य योनयः॥

जगत् का सौन्दर्य देखकर पूर्ण सौन्दर्य की स्मृति हृदय में जाग जाती है और प्राण रोने लगता है। एक भावुक कवि इस सम्बन्ध में कहते हैं—

'The youth sees the girl, it may be a chance face, a chance outline amidst the most banal surroundings. But it gives the cue. There is a memory, a confused reninscence. The moral figure without penetrates to the immortal figure within, and there rises into consciousness a shining form, glorious, not belonging to this world, but vibrating with the agelong life of humanity, and the memory of a thousand love-dreams. The waking of this vision intoxicates the man, it glows and burns within him, a Goddess (it may be Venus herself) stands in the sacred place of his temple, a sence of awestruck splendour fills him and the world is changed.

(Edward Carpenter, The Art of Creation, Page 137)

सामान्यतः एवं विशेषतः, हम इसका आस्वादन करते हैं। उसी की पुनः प्राप्ति की आकांक्षा से ऐन्द्रियक जगत् में विचरण करते हैं। किन्तु यहाँ उसे पाने की सम्भावना नहीं है। जहाँ कुछ देखता हूँ, जो कुछ सुनता हूँ, लगता है मानो सभी परिचित हैं, अति परिचित हैं, अथच इसी परिचय के ऊपर एक आवरण पड़ गया है। इन्द्रियाँ केवल आंशिक भाव से तथा क्षणिकभाव से इसे हटा देती हैं। तभी चिरपरिचित को 'यही है' कहकर पहचान पाता हूँ।

जो संसार-सुख से सुखी हैं, वे भी सौन्दर्यमोहन के करस्पर्श से व्याकुल हो उठते हैं। मानों किसी के विरह से कातर एवं चंचल हैं। वास्तव में वे तब अज्ञातरूप से

जन्मान्तर के सौहृद् का स्मरण करते हैं। अनन्त प्रकार के अनन्त विशिष्ट भाव हृदय में स्थिर होकर स्थित हैं। विभाव आदि के प्रभाव से उनमें से कोई न कोई अकस्मात् रसरूप से जाग उठता है।

जब एक सौन्दर्य ही नाना सौन्दर्य है और वह मौलिक नाना सौन्दर्य ही जब जगत् के भिन्न-भिन्न सौन्दर्य रूप से प्रकाशमान है, तब जगत् सौन्दर्य-सार है, यह समझ में आता है। सभी वस्तु सुन्दर है, सब रसमय है, किन्तु चित्त के मल तथा चांचल्य के कारण देखते समय इस सुन्दरता तथा रस का अनुभव नहीं होता। तब रस सुख-दु:ख रूप से तथा सौन्दर्य सुन्दर-कुत्सित रूप से विभक्त हो जाता है। काल का स्रोत वेग से बहता रहता है, तथा हम लोगों को डुबाये जाता है। तब श्रेय तथा प्रेय का विभाग होता है। नीति के जगत् में उतरना पड़ जाता है, पाप-पुण्य का आविर्भाव होता है, राग-द्वेष की सम्भावना प्रस्फुटित हो जाती है।

जिस ओर देखता हूँ, उस ओर यदि सौन्दर्य दिखलाई न पड़े, जिसे देखूँ यदि उससे प्रेम न कर सकूँ—तब रस-साधना की सिद्धि नहीं हो सकी है। सौन्दर्य का अन्वेषण बाहर नहीं करना होगा, प्रेम का कोई हेतु नहीं होता। पूर्ण सौन्दर्य तथा पूर्ण प्रेम के साथ स्वाभाविक मिलन में पुन: प्रतिष्ठित होने पर जगत् की समस्त वस्तुओं के साथ स्वाभाविक मिलन साधित हो जाता है। तब कुछ भी 'पर' नहीं रहता, कुछ भी 'कुत्सित' नहीं रह जाता। मनुष्य जीवन की सौन्दर्य-साधना का यही परिणाम है।





श्रीसाम्बपुराणम्

हिन्दीव्याख्याकार-श्री एस.एन.खण्डेलवाल

सृष्टा द्वारा सृष्ट इस भौतिक सृष्टि के व्यवस्थापक मानव के साथ आरम्भ से ही किसी न किसी रोग का साहचर्य रहा है । उसमें भी सामजिक दृष्टि से अत्यन्त हेय स्थान पर कुष्ठ रोग से ग्रसित व्यक्ति की गणना की जाती है । इस रोग के निवारण हेतु अद्यावधि अनेकानेक उपाय किये जाते रहे हैं, फिर भी उनकी सफलता सन्दिग्ध ही रही है ।

किसी न किसी देवता-विशेष को उद्देश्य कर उनके विशेष प्रभाव तथा वैशिष्ट्य का विवेचन करना ही उप-पुराणों का प्रतिपाद्य विषय रहा है । इसी क्रम में साम्बपुराण में भगवान् भास्कर का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करने के साथ-साथ उनकी उपासना के विविध रूपों का वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ के अनुसार तथा वेदों के अनुसार भी भगवान् भास्कर की उपासना से कुष्ठ रोग का समूल नाश होता है ।

चौरासी अध्यायों में निबद्ध साम्बपुराण में पिता द्वारा प्रदत्त शाप के फलस्वरूप उक्त भयंकर रोग से ग्रसित साम्ब द्वारा भगवान् सूर्य की सविधि उपासना कर कुष्ठ रोग से मुक्त होने का विवेचन किया गया है । साथ ही साथ सूर्य की उपासना के अधिकारियों का भी निर्देश किया गया है ।

योगवासिष्ठः
(महारामायणम्)

भाषानुवादकारः
पण्डित श्रीकृष्णपन्तशास्त्री
पूर्वअध्यक्ष, अच्युतग्रन्थमाला-काशी



सम्पादकौ
पण्डित श्रीकृष्णपन्तशास्त्री
पण्डित श्रीमूलशङ्करशास्त्री

भूमिकालेखकः संशोधकश्च
प्रोफेसर मदनमोहन अग्रवाल

योगवासिष्ठ वेदान्तशास्त्र के मुख्य प्रमाणित ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी = उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीतादि के समान संस्कृत भाषा में अद्वैतवेदान्त का बृहत् ग्रन्थ है। बृहद् योगवासिष्ठ में लगभग बत्तीस हजार (32000) या तैंतीस हजार (33000) श्लोक हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठमहारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय है, क्योंकि इसमें किसी सम्प्रदायविशेष का उल्लेख नहीं है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, चिरकाल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद् भक्तों के लिए भागवतपुराण और रामचरितमानस का है, तथा कर्मयोगियों के लिए भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिए योगवासिष्ठ का है। सहस्त्रों स्त्री-पुरुष–राजा से रङ्क तक–इस अद्भुत ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतिदिन के जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते रहे हैं। इस ग्रन्थ में प्रायः सभी प्रकार के पाठकों के अनुयोग के लिए सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहा बड़े-बड़े विद्वानों के लिए गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं है, जिसका समाधान इसमें प्राप्त न हो। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन—सभी का आनन्द वर्तमान है। यह सब श्रुतियों का सार एवं माण्डूक्यकारिका का वार्तिक = व्याख्यान ग्रन्थ है। महर्षि वसिष्ठ ने स्वयं कहा है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्। इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥

योगवासिष्ठ के प्रस्तुत संस्करण में संस्कृत के प्रत्येक श्लोकों की अत्यन्त सरल हिन्दी भाषा में सुन्दर विवेचना की गई है, जो इसकी प्रमुख विशेषता है। कोई भी व्यक्ति, जो संस्कृत से सर्वथा अपरिचित है, इसका सरलतापूर्वक अध्ययन कर योगवासिष्ठ के गूढ़दार्शनिक स्थलों को हृदयंगम कर सकेगा और उसको मुक्तिलाभ के लिए अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं होगी। मोक्षप्राप्ति के उपाय ढूँढने की चेष्टा में व्यक्ति को आत्मानुभव होता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से व्यक्ति के सम्पूर्ण क्लेशों-दुःखों का अन्त होकर उसके हृदय में अपूर्व शान्ति प्राप्त होगी। अध्ययनार्थी सांसारिक सुख-दुःख की परिधि से बाहर निकलकर परम आनन्द का अनुभव करेगा। मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेवाले निश्चय ही इस जीवन में ब्रह्मज्ञान कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। यह ग्रन्थ ज्ञान का भण्डार है। वेदान्त के ग्रन्थों में यह चमकता हुआ रत्न है। मुमुक्षु के लिए यह ग्रन्थ नित्य स्वाध्याय-योग्य है। ग्रन्थ की मौलिक उपादेयता की दृष्टि से आशा की जा सकती है कि वेदान्त के सच्चे जिज्ञासुओं में इसका विशेष प्रचार-प्रसार होगा।

प्रथम संस्करण : 2011 **मूल्य : ₹ 10000 (1-6 भाग सम्पूर्ण)**

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन-वाराणसी